आलोचना की संस्कृति

प्रफुल्ल कोलख्यान

हुई मुद्दत कि ग़ालिब मर गया, पर याद आता है
वह हर इक बात पर कहना, कि यों होता, तो क्या होता।

-ग़ालिब [1]

आलोचना मनुष्य की नैसर्गिक और इस अर्थ में मौलिक प्रवृत्ति है। मनुष्य के स्वभाव की निर्मिति में ही ऐसी कोई बात निहित है कि न तो बड़ी-से-बड़ी सफलता ही उसे पूर्ण संतुष्टि देती है और न प्रयास की बड़ी-से-बड़ी विफलता ही उसे अंतिम रूप से हताश कर पाती है। उपलब्ध के विकल्प की तलाश की प्रवृत्ति ने मनुष्य की संस्कृति को समृद्ध किया है। उपलब्ध के विकल्प की तलाश के क्रम में आलोचना का विकास होता है। इस विकल्प की तलाश में मनुष्य 'यह हुआ तो, यह हुआ' का संधान करता है। मनुष्य सदैव सोचता रहता है कि 'यों होता, तो क्या होता'। 'यह होने, से यह होगा' का अनुमान करते हुए ही मनुष्य विज्ञान और प्रगति के रास्ते पर आगे बढ़ता रहा है। इस तरह आगे बढ़ने में आलोचना की वृत्ति मनुष्य की मुख्य नियामिका शक्ति है। आलोचना के विकास को सांस्कृतिक परंपराओं के ऐतिहासिक संदर्भों में देखने से बहुत सारी बातें स्वत: स्पष्ट हो जाती हैं।

आलोचना का आशय और उपादान

व्याख्या, दर्शन, विवेचन, विमर्श, जैसे कतिपय संकाय आलोचना के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं, आलोचना के पर्याय नहीं। आलोचना एक साहित्यिक विधा है, किंतु इसे साहित्य तक सीमित मान लेना भूल होगी। आलोचना का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना कि साहित्य में। बल्कि सच तो यह है कि जीवन में महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही आलोचना साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण है।

साहित्य में मनुष्य के सारे प्रसंगों के लिए अवसर होता है। साहित्य के मूल में जीवन की आलोचना की मार्मिक निर्मिति सक्रिय रहती है। एक साहित्यिक विधा के रूप में 'आलोचना' के मूल में साहित्य रहता है। इस प्रकार साहित्यिक आलोचना के मूल में जीवन की आलोचना की आलोचना होती है। यहीं, इस बात को धैर्यपूर्वक समझा जा सकता है कि वस्तुत: 'साहित्यालोचन' के अंतर्मन में जीवन के होने के कारण ही आलोचना की नजर साहित्य पर टिकी होती है। साहित्य के आलोचक के सामने भी जीवन अपनी समग्रता, संश्लिष्टता, जटिलता और संवेदनशीलता के साथ उसी तरह उपस्थित रहता है, जिस तरह कि कवि, उपन्यासकार, कथाकार, आदि के सामने उपस्थित रहता है। यहीं साहित्य की अन्य विधाओं से आलोचना का वैशिष्ट्य स्पष्ट होता है। साहित्य की अन्य विधाओं के सामने जहाँ सिर्फ जीवन और पाठ में अंतरित होनेवाला जीवन का कथ्य होता है, वहीं आलोचना के सामने जीवन के साथ-साथ जीवन और पाठ में अंतरित हुए कथ्य की अन्य आलोचनात्मक एवं मार्मिक निर्मितियाँ, अर्थात साहित्य की अन्य विधाएँ भी होती हैं। रचना और आलोचना की कार्य-प्रक्रिया से यह बात साफ हो सकती है कि साहित्य जीवन के कथ्य को पाठ में बदलता है और आलोचना जीवन के कथ्य के इस पाठ को कथ्य में बदलता है। एक उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो सकती है। आम किसान के जीवन के कथ्य को अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचंद होरी के पाठ में बदलते हैं और 'गोदान' की आलोचना होरी के इस पाठ को आम किसान जीवन के कथ्य में बदलती है। प्रत्यांरण प्रक्रिया के अंतर्गत इसी बिंदु पर कभी-कभी साहित्य की अन्य विधाओं के साथ आलोचना के टकराव की भी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह टकराव सदैव अबांछनीय ही नहीं होता है, इसके मूल में आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक-बौद्धिक परिस्थितियाँ और इन परिस्थियों की अपनी-अपनी समझ भी होती है।

साहित्य की अन्य विधाओं से जुड़े लोग कई बार जाने-अनजाने आलोचना को साहित्य तक सीमित कर देने का समर्थन करने लग जाते हैं, कई बार आलोचना के 'साहित्य' होने पर भी संदेह व्यक्त करते हैं। ऐसे लोग मानते हैं कि उनके द्वारा निर्मित जीवन की मार्मिक छवियों का मिलान मूल जीवन से नहीं किया जाना चाहिए। तर्क यह कि 'साहित्य और जीवन में बहुत बड़ा अंतर होता है'। साहित्य और जीवन में अंतर तो होता है, लेकिन यह अंतर साहित्य के जीवन-निरपेक्ष हो जाने का आधार नहीं बन सकता है। ऐसे लोग जीवन के मूल परिप्रेक्ष्य में साहित्य की प्रामाणिकता की परख की किसी भी प्रेरणा से साहित्य को दूर रखना चाहते हैं। कहना न होगा कि ऐसे लोग साहित्य को स्वत:-प्रमाण एवं स्वयं-सिद्ध मानते हैं। ऐसे लोग कला की स्वायत्तता एवं जीवन प्रसंगों की अतुलनीयताओं के जोरदार समर्थक होते हैं और कला को उसका अपना प्रयोजन खुद मानते हैं। ऐसी मान्यताएँ साहित्यकार को 'प्रजापति' की भूमिका में ला खड़ा करती है– कवि 'प्रजापति' और 'स्वयंभू परिभू' हो जाता है! 'प्रजापति' और 'स्वयंभू परिभू' होने के मोह से

बचना थोड़ा मुश्किल तो होता ही है! इस भावाडंबर में साहित्यकार अपने को सामान्य लोगों से इतर कुछ मानने लग जाता है। जीवन और साहित्य में चाहे जो अंतर हो, सामान्य लोगों और साहित्यकार में कोई तात्त्विक अंतर नहीं होता है। भावाडंबर में इस बात को छुपा लिया जाता है कि सामान्य लोगों की तरह ही साहित्यकार का भी जीवन होता है, उसके सुख-दुख होते हैं, लोभ-मोह होते हैं। साहित्यकार के खुद का अस्तित्व ही जब स्वायत्त नहीं होता है, तब उसके साहित्य की स्वायत्तता की बात में या तो नादानी हो सकती है या फिर शैतानी। नादानी और शैतानी से अलग होकर सोचने पर यह बात तुरंत समझ में आ सकती है कि मनुष्य इसलिए भी मनुष्य हो सका है कि उसके अंतर्मन में विन्यस्त 'मनुष्य बनने की चाह', न सिर्फ 'देवता बनने की चाह' को सदा पराजित करता रहा है, बल्कि अ-मानुष बन जाने एवं बना दिये जाने की मजबूरियों से भी लगातार संघर्ष करता रहा है। मनुष्य के इस संघर्ष को साहित्य इस तरह से समझता है कि 'बसकि दुश्वार है, हर काम का आसाँ होना/ आदमी को भी मुय्यसर नहीं इन्साँ होना'[2]। साहित्य न सिर्फ इस संघर्ष को समझता है, बल्कि करता भी है।

काव्यशास्त्र और आलोचना के द्वंद्व को ध्यान में लाना चाहिए। शास्त्र कवि को 'प्रजापति की पूजनीयताओं के उत्कर्ष' के वैशिष्ट्य से आच्छादित करता है। आलोचना कवि को 'प्रजा की संघर्षशीलताओं के हर्ष' के पर्यावरण में अनावृत्त करती है। आलोचना का जन्म जीवन-संबंधों के गुणसूत्रों की अंतर्बद्धताओं के विकल्पों की तलाश में हुआ है। कहना न होगा कि आलोचना का विकास आप्त-वचनों, स्वत:-प्रमाणों और स्वयं-सिद्धियों के दुष्चक्रों[3] से बाहर निकलने के लिए असहमतियों की डोर पकड़ जीवन की जमीन पर निरंतर आगे बढ़ते रहने से हुआ है। साहित्य जीवन की आलोचना का उपादान भी है और निमित्त भी। साहित्य और आलोचना का संबंध निमित्तोपादन का होता है। जीवन-संबंधों के विकल्पों की तलाश में साहित्य और आलोचना की सह-यात्रा जारी रहती है। साहित्य जीवन तो नहीं होता, हाँ जीवन का चित्र जरूर होता है। इस अर्थ में साहित्य 'चित्र-तुरंग न्याय' के निहितार्थ से एक जीवन होता है।

आलोचना

जीवन के परिप्रेक्ष्य का संधान करती है। मनुष्य का जीवन सदैव संघर्ष में रहा है। जीवन निबाह ले जाना सचमुच कठिन काम है। देह धरे के दंड को कबीर ने अने समय में अपने तरह से महसूस किया था, 'देह धरे का दंड है, सब काहू को होय। ज्ञानी भुगते ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय।।'[4] ज्ञानी-अज्ञानी हर किसी का जीवन दुख से भरा है। यह दुख किसी एक रंग और एक ही तरीके का नहीं होता है। जितना वैविध्यपूर्ण जीवन है उतना ही वैविध्यपूर्ण दुख भी है। इस दुख पर काबू पाने के लिए मनुष्य तरह-तरह का उद्यम करता रहा है। लेकिन न तो दुख जीवन से पूरी तरह दूर होता है और न जीवन दुख से लड़ना छोड़ता है। मनुष्य अपने एक हाथ से आसमान के चाँद को छू लेना चाहता है तो दूसरे हाथ

से शांत जल में तिरते हुए चाँद को भी हासिल कर लेना चाहता है। दोनों ही तरह के चाँद को आदमी अपने तरीके से हासिल करता आया है। विडंबना यह कि चाँद तक की यात्रा करनेवाला मनुष्य कई बार अपने पड़ोसी के आँगन तक नहीं पहुँच पाता है। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को खोल लेना वाला मनुष्य अपने पड़ोसियों के मन के साँकल को नहीं खोल पाता है। मनुष्य का संघर्ष और समन्वय सिर्फ प्रकृति से ही नहीं संस्कृति भी होता है। इस बात को समझना जरूरी है। संस्कृति प्रकृति के आँगन में आनंद का अवकाश बनाती है। प्रकृति में विविधता तो है, लेकिन विषमता नहीं। 'हाथी को मन चिंटी को कण' प्रकृति की विविधता में सापेक्षिक-समता का विन्यस्त-सूत्र है। संस्कृति विविधता को जीवन का अनिवार्य आधार मानते हुए विषमता और समता के प्रावृत्तिक संघर्ष की साक्षी बनती है। प्रकृति ने मनुष्य को उसकी जीवन-निर्वाही भौतिक जरूरतों की दृष्टि से सापेक्षतः समान बनाया है; चिंटी और हाथी की तरह की विविधता उस में नहीं है। विषमता और समता का संघर्ष सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्ष है। आलोचना के लिए इस संधर्ष को समझना और अपना पक्ष तय करना जरूरी होता है। जो साहित्य इस बात को नहीं समझता है, वह 'घुणाक्षर न्याय'[5] की तरह का होता है। संस्कृति के संघर्ष में आलोचना की भूमिका कर्ण, अर्जुन, संजय की न होकर कृष्ण की होती है। आलोचना मुख्यतः समता और विषमता के प्रावृत्तिक संघर्ष की अशांत मनोभूमि पर साहित्य को ले जाने का काम करती है। आलोचना साहित्य को सांस्कृतिक संधर्ष के मध्य[6] में ले जाती है, मध्य का अर्थ प्रावृत्तिक संघर्ष में उभय-निष्क्रियता नहीं है।

मनुष्य लड़ता आया है और जीतता आया है, 'यूँ ही हमेशा उलझती रही है ज़ुल्म से ख़ल्क/ न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई/ यूँ ही हमेशा खिलाये हें हमने आग में फूल/ न उनकी हार नई है न अपनी जीत नई'[7]। सच यह भी है कि न तो कोई हार आखिरी होती है और न कोई जीत। इस हार-जीत से मनुष्य उल्लिसित होता है, थकता भी है। ठीक इसी जगह पर आलोचना की डोर पकड़ मनुष्य अपने उल्लास और अपनी थकान को साधता हुआ अपने मन में सांगीतिक सामंजस्य का संस्थापन कर लेता है। इसी सामंजस्य से समृद्ध मन मत्त होकर नाचता है और उसका प्रेम राग साहित्य के रूप में प्रकट होता है जिसको पूरी दुनिया दिन-रात[8] सुनती है, 'नाचु रे मन मत्त होय।/ प्रेम को राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ।'[9] यह नाचता हुआ मत्त मन जब आत्मन्वेषण और आत्मविस्तार के कठिन रास्ते पर कदम बढ़ाता है तो उसका 'नाच' चुपके से आलोचना में बदल जाता है। जैसे वसंत चुपके से चुंबन में सिमट जाता है, प्रेम सिर्फ भावना न रहकर मौसम बन जाता है और अपनी धुरी पर नाचती हुई धरती हल्की-सी सिहरन के साथ चुपके से प्रेमपत्र में बदल जाती है। जीवन के इन सारे सूत्रों को जोड़कर साहित्य झीनी-झीनी चदरिया बुनता है और आलोचना उस चादर को ज्यो-का-त्यों धर देने का विवेक बनकर जिंदगी में दाखिल होती है। इस जीवन में

अमृत भी है और विष भी। जीवन में उलझाव भी है और सुलझाव भी है। जीवन में आँखिन देखी का महत्त्व है तो कागद लेखी का भी महत्त्व है। मन को एक करनेवाली प्रवृत्तियाँ हैं तो मन को बाँटनेवाली प्रवृत्तियाँ भी सक्रिय रहती हैं। बँटा हुआ मन जीवन को और इसीलिए साहित्य को भी मथता रहता है, साहित्य मन को एक करने की चिंता करता है। इस समस्या से जूझता रहता है कि 'मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।/ मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागद की देखी।/ मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।'[10] 'सुरझावनहारी' और 'उरझाई' रखनेवाली प्रवृत्तियों को पहचानने और बरतने की जरूरत से आलोचना ऊपजती है। सचमुच, 'वे लोग महान हैं जो जीते नहीं, लड़ते हैं/ जो पहली से आखिरी साँस का कुरुक्षेत्र/ लहूलहुलान होकर भी जूझते हुए पार करते हैं।'[11] आलोचना 'कुरुक्षेत्र' को पार करते हुए मनुष्य के पास साँस को सँजोने के लिए आराम और साहस के आशय का पाथेय लेकर उपस्थित होती है।

आलोचना की आँख और सपनों का समाज

मनुष्य के सारे उद्यम अपने रूप और तत्त्व में एक दूसरे से आवयविक स्तर पर जुड़े होते हैं। सुर भी सात ही हैं, रंगपटल के रंग और वर्णमालाओं के वर्ण भी सीमित ही हैं। विज्ञान के मौलिक सिद्धांत भी अनंत नहीं हैं। फिर संगीतों के इतने वैविध्य, रंगों का इतने वैभव, भाषाओं की इतनी अभिव्यक्तियों, विज्ञान के इतने चमत्कारों और पूरी सृष्टि के विपुला होने की बात सोचकर आश्चर्य होता है। इनके स्रोत कहाँ हैं! इनके स्रोत मनुष्य की संस्कृति में हैं। एक को दूसरे से मिलाने और अलग करने की यौगिक एवं रासायनिक प्रक्रिया को जानने एवं अपनाने के कारण ही मनुष्य ज्ञात सृष्टि के अन्य प्राणियों से अलग एवं अतुलनीय हो सका है; 'मनुष्य' हो सका है। मिलाने और अलग करने की निरंतर गतिमान प्रक्रिया ही मनुष्य की संस्कृति है। संस्कृति मनुष्य के व्यवहार का ढंग है। मनुष्य का यह व्यवहार सिर्फ कलाओं और समाज-विद्याओं की दुनिया से उसके बरताव तक सीमित नहीं होता है, बल्कि उसके चरित्र की अंतर्वस्तु से जुड़ा हुआ होता है। मनुष्य के चरित्र की अंतर्वस्तु, अर्थात संस्कृति उसकी वैज्ञानिक मेधा के विकास का आधार रचती है। वैज्ञानिक मेधा मनुष्य की संस्कृति को नये-नये आयामों और प्रज्ञाओं से समृद्ध करती है। इन प्रक्रियाओं के सामाजिक प्रतिफलनों के समग्र का सारांश विकास के रूपों एवं तत्त्वों में प्रकट होता है। जितनी तेजी से विकास होता है, उतनी ही तेजी से दुनिया रोज पुरानी पड़ जाती है। 'यहां रोज कुछ बन रहा है/ रोज कुछ घट रहा है/ यहां स्मृति का भरोसा नहीं/ एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है दुनिया'[12] । साथ ही 'यही वो समय है जब/ कट चुकी है खेत से फसल/ और नया बोने का दिन नहीं/..। शेष हो चुका है पुराना और नया आने को शेष है।'[13] आलोचना संस्कृति के सक्रिय विन्यास

में कृति और कृतिकार के अव्याघाती सपनों के संस्थापन एवं सहयोजन के दायित्व को निभाने के लिए तत्पर रहती है।

मनुष्य को नींद भी चाहिए और सपने भी चाहिए। परंपरा में नींद भी होती है और सपने भी होते हैं। आलोचना जीवन से नींद और सपनों के समानुपातिक संबंध की तलाश के लिए परंपरा से बरताव की भूमिका रचती है। नींद और सपना के साथ किया जानेवाला अंतर्मिलानी बरताव आलोचना है। प्रतिगामी प्रवृत्ति परंपरा की नींद को ढोती है और प्रगतिकामी प्रवृत्ति सपनों का संवहन करती है। सपना और नींद को अलग-अलग समझना आलोचना का दायित्व होता है। जीवन को नींद के भार से मुक्त करना और नींद को सपनों के सितारों से सजाना आलोचना का काम है। 'आलोचना, साहित्य की आलोचना का प्रमुख काम क्या है? कुल मिलाकर यह कि साहित्य के अर्थनिरूपण और निहितार्थ की संवेद्यता को ऐतिहासिक-सामाजिक अनुभवों की शृंखला से जोड़ते हुए परंपरा के प्रवाह के सातत्य में उसके मूल्य एवं स्थान निर्धारण के साथ-साथ नये के जुड़ने से पुराने की स्थिति में होनेवाले परिवर्त्तन को उद्घाटित करना। नये के जुड़ने से पुराने की स्थिति में होनेवाले परिवर्त्तन-परिस्थापन या कई बार उसके विसर्जन को ही 'परंपरा में पलीता लगाकर उड़ाने' की बात कही जाती है। परंपरा में पलीता लगाने का मकसद जीवंत परंपरा को नष्ट या भ्रष्ट करने का नहीं बल्कि जीवंत परंपरा को किसी भी प्रकार की कीर्तनिया चर्या से बाहर निकालते हुए जीवन-व्यवहार में उसकी कर्मकांड-मुक्त उपादेयता को बनाये रखने का होता है। इसलिए 'परंपरा में पलीता लगाना' कोई आसान काम नहीं है। सिर्फ टेक्स्ट के आधार पर यह काम नहीं हो सकता है। उसके लिए कॉनटेक्स्ट की तलाश करनी ही पड़ती है। इसी तलाश में 'जो है उससे बेहतर' को हासिल करने के लिए आलोचक को अपने समय तक की मानवीय उपलब्धियों के सारे प्रयासों और आशयों से जूझना एवं जुड़ना पड़ता है। एक ही समाज और समय में कई हित-समूह एक साथ सक्रिय होते हैं। मानवीय उपलब्धियों के सारे प्रयास और आशय अनिवार्यत: परस्पर अविरोधी और प्रतिषेधी ही नहीं होते हैं इसलिए ये हित-समूह भी अनिवार्यत: परस्पर अविरोधी और प्रतिषेधी ही नहीं होते हैं। ये सारे प्रयास और आशय मिलकर ग्रेटर-कॉनटेक्स्ट और कॉनटेक्स्ट बनाते हैं। इन प्रयासों और आशयों को ठीक-ठीक नहीं समझ पाने के कारण इनके निरसन के वर्चस्ववादी रवैये के चलते या अन्य प्रयोजनों से इन में से कई के मिथ्या अभिज्ञान से कई समानांतर कॉनटेक्स्ट एक साथ प्रस्तावित हो जाते हैं। इन में से कुछ कॉनटेक्स्ट छद्म भी होते हैं। छद्मों को तार-तार करनेवाली आलोचना दृष्टि समर्थ आलोचकों के पास होती है। कुछ समानांतर कॉनटेक्स्ट, सामाजिक हित-समूहों के वैभिन्न्य के संदर्भों में समान रूप से वैध होते हैं। विभिन्न कॉनटेक्स्टों की इस समान वैधता से जीवंत सामाजिक जटिलताएँ विनिर्मित्त होती है। जब तक विभिन्न सामाजिक हित-समूहों के हित आपस में समेकित और समन्वित होकर एक हित-समूह नहीं बन जाते हैं तब तक इन सामाजिक जटिलताओं की जीवंतता बची रहती है। सार्थक आलोचकों में वैध समानांतर

कॉनटेक्सटों के प्रति पूजा का प्रमाद नहीं होता है परंतु आदर का औदार्य अवश्य होता है। सामाजिक जटिलताओं की जीवंतता के कारण इन विभिन्न कॉनटेक्स्टों के प्रति आदर भाव बनाये रखने के सांस्कृतिक-धैर्य के निर्माण के सातत्य को बनाये रखने की प्रक्रिया की पहचान करना भी साहित्य और संस्कृति के आलोचक का एक महत्त्वपूर्ण काम होता है। यह काम प्रक्षिप्त स्थूल समाजशास्त्रीयता से मुक्त हुए बिना मुमकिन नहीं होता है। इन विभिन्न कॉनटेक्स्टों के प्रति आदर भाव से ही भारतीय समाज और संस्कृति का ऐकांतिक वैशिष्ट्य रचनेवाली बहुलात्मकता के प्रति समभाव बचा रह पाता है। समाज का प्रभु-वर्ग सिर्फ अपने कॉनटेक्स्ट को ही महत्त्वपूर्ण, अद्वितीय और वैध मानता है और परंपरा के संदर्भ में अद्वैतवादी आचरण करता है। सत्य को 'एक' और 'अविरोधी' बताता है। यह 'सत्य' प्रभु-वर्ग का अपना ही सत्य होता है, इसकी अविरोधिता को साबित करने और साबूत रखने के लिए प्रभु-वर्ग विभिन्न प्रकार से प्रयत्नशील रहता है। एक विवेकशील आलोचक समाज के प्रभु-वर्ग के कॉनटेक्स्ट के साथ 'क्वचित अन्योपि' कॉनटेक्स्टों की बहुवचनात्मक वैधता को भी समान रूप से स्वीकार करता है। कॉनटेक्स्ट की इसी बहुवचनात्मक वैधता की स्वीकृति परंपरा की बहुवचनात्मकता के होने को स्वीकार्य बनाती है। इसीलिए नामवर सिंह न सिर्फ परंपरा का प्रयोग बहुवचन में करते हैं, बल्कि इन परंपराओं के वैध होने की पहचान और उनको प्रतिष्ठित करने की भी गंभीर प्रचेष्टा करते हैं। ग्रेटर-कॉनटेक्स्ट, कॉनटेक्स्ट और सब-कॉनटेक्स्ट की बात यदि स्वीकार्य हो तो इन पंरपराओं के प्रवाह के सातत्य में सिर्फ व्याघाती संबंध न होकर समानांतर और सहवर्तिता का संबंध भी स्वीकार्य होता है।'[14]

अपने दायित्व-पालन के लिए आलोचना को सहयोजी और गतिशील होना पड़ता है। यह विज्ञान और तकनीक के नवोन्मेष का समय है। इसीलिए यह समय सांस्कृतिक प्रक्रिया के भी नवोन्मेष का है। जाहिर है कि 'साहित्य आज अनेक प्रकार के पाठकों, श्रोताओं को संबोधित करता है। अनेक प्रकार के उद्देश्यों एवं प्रयोजनों के लिए काम करता है। ऐसी स्थिति में इस अनेकधा विभक्त साहित्य के लिए कहना पड़ जाता है कि आज इसकी समीक्षा संभव है? हम मानते हैं कि संभव तो है, पर जिस नवीन समीक्षाशास्त्र की इसके लिए आवश्यकता है उसे अंशत: समाजशास्त्र की भी कृति होना पड़ेगा। यदि ऐसा न होगा तो हमें समसामयिक साहित्य जैसा है और जैसा होना चाहिए–- दोनों के अधिकांश भाग को छोड़ देना होगा। इसीलिए साहित्यशास्त्र एवं समाज-विद्याओं के मध्य एक संयोजन एवं समन्वय की स्थिति विचारणीय है।'[15] आलोचना के सामने चुनौती 'समाजशास्त्र की कृति' होने की भी है और साथ ही 'समाज की कृति' होने की भी है। यह चुनौती तब और कठिन हो जाती है जब 'शास्त्र' का ज्ञान और 'समाज' का संवेदन एक दूसरे से भिड़ जाते हैं। आधुनिकता और जनतंत्र आलोचना की आँख है। आलोचना की आँख में आत्म-विरोध और अंतर्विरोध मुक्त आत्म-

संगत जीवन के सपनों का सदावास होता है। 'धरती को स्वप्न की तरह देखने वाली आँख/ और लोकगीत की तरह गाने वाली आवाज से ही/ सुबह होती है/ और परिंदे पहली उड़ान भरते हैं।'[16] समय के साथ-साथ परंपरा के साथ जातीय सलूक में भी बदलाव होता है। इस सलूक से परंपरा की छवि में बदलाव आता चलता है। महत्त्वपूर्ण कृतियों के अर्थ में भी बदलाव होता चलता है। अनुभव में नये के जुड़ाव के साथ सार्वजनिक चित्त[17] में भी बदलाव आता है। यह ठीक है कि जनता की चित्तवृत्ति में बदलाव का असर साहित्य पर पड़ता है। जनता की चित्तवृत्ति में बदलाव एक निरंतर गतिमान प्रक्रिया है। इस गतिमानता में साहित्य के अर्थ में भी बदलाव आता रहता है। हम जितनी बार गोदान को पढ़ते हैं, उतनी बार उसे फिर से रचते हैं। 'गोदान' की नींद में नहीं, 'गोदान' के सपना में हम बार-बार अंतर्यात्रा करते हैं। इसलिए, 'पिता कहते हैं मैं अपनी तस्वीर जैसा नहीं रहा/ लेकिन मैंने जो नये कमरे जोड़े हैं/ इस पुराने मकान में उन्हें तुम ले लो/ मेरी अच्छाई ले लो उन बुराइयों से जूझने के लिए/ जो तुम्हें रास्ते में मिलेंगी/ मेरी नींद मत लो मेरे सपने लो'[18]। नींद ओर सपनों को अलगाने का संधर्ष इतना आसान नहीं है। इस कठिन संघर्ष में आलोचना चित्त को सँजोती और प्रसन्न रखती है।

आलोचनात्मक

विवेक के अभाव में मनुष्य का जीवन एक भी कदम आगे नहीं बढ़ सकता है। इसलिए निंदा, जो कि इसका निकृष्टतम अभिप्रेत होता है, के अर्थ में भी समझदार लोग इसके महत्त्व को जानते रहे हैं। तभी तो सलाह दी थी कि निंदक को नजदीक रखिये, आँगन में कुटी बनाकर। क्योंकि यह निंदक बिना साबुन-पानी के ही स्वभाव को निर्मल करता है। साबुन-पानी न लगे, लेकिन जिसका 'मल' निकाला जाता है उसे कुछ-न-कुछ 'रगड़' भी तो झेलनी ही पड़ती है। अब जिसे रगड़ झेलनी पड़े वह क्या बताये कि आलोचना अच्छी चीज है! आलोचना सत्य के संधान का रास्ता बनाती है। समझा जा सकता है कि न तो सत्य ही सीमित और एकार्थी होता है और न उसके संधान का रास्ता ही एक दैशिक और एक आयमी होता है। सत्य के प्रमाण को हासिल करने का एक तरीका 'आप्त-वचन' है। 'आप्त-वचन' स्वत:-प्रमाण होते हैं। स्वत:-प्रमाण को बस मान लेना पड़ता है! स्वत:-प्रमाण के अंध-बिंदुओं को चुनौती नहीं दी जाती है! चुनौती देने से ही वह खंडित हो जाता है। 'आप्त-वचन' का आधार शास्त्र होता है। शास्त्र और सत्ता का संबंध बहुत गहन होता है। सत्य के प्रमाण को हासिल करने का एक अन्य तरीका है। यह तरीका 'आप्त-वचन' को चुनौती देते हुए उसे परीक्षित और जरूरी हुआ तो खंडित भी करता है। 'आप्त-वचन' को चुनौती देना शास्त्र को और इसी ब्याज से सत्ता को चुनौती देना होता है। यह तरीका निरीक्षण-परीक्षण की विधि अपनाता है। कहना न होगा

कि 'निरीक्षण-परीक्षण' में 'ईक्षण' और आलोचना में 'लुच्' के होने से, इनमें देखने और दृष्टि की प्रक्रिया शामिल है। स्वभावत: निरीक्षण-परीक्षण आलोचना की प्रविधि है। निरीक्षण-परीक्षण की प्रविधि अपनाकर आलोचना शास्त्र और सत्ता, जो वस्तुत: एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, को चुनौती देती है। शास्त्र और सत्ता को चुनौती देना कोई आसान काम नहीं होता है। शास्त्र और सत्ता ने आलोचना को बदनाम करने का प्रयास किया है; आलोचना की निर्मिति को निषेधात्मक अर्थ-छवि से जोड़कर जीवन से खदेड़ने का विफल प्रयास किया है। शास्त्र और सत्ता अपने अंध-बिंदुओं की अंधता पर पर्दा डालने और अपनी मारक छिद्रताओं को छिपाने का भरपूर प्रयास करते हैं। शास्त्र और सत्ता 'आलोचना' के काम को 'छिद्रान्वेषण' बताने का प्रयास करते हैं। शास्त्र और सत्ता ढीठ और ठस होते हैं। वे न तो छिद्र के होने से इनकार करते हैं और न उसे दूर करने का कोई इरादा रखते हैं।

साहित्य का संबंध सिर्फ सत्य से नहीं होता है, बल्कि समग्र जीवन से होता है। जीवन में सिर्फ सत्य ही नहीं होता है, झूठ भी होता है। न तो सारे सत्य ही हितकर होते हैं और न सारे झूठ ही अहितकर होते हैं। सत्ता का शास्त्र कहता है सपना झूठ होता है। साहित्य कहता है 'सपनों का मर जाना खतरनाक होता है'[19]। समाज का संवेदन कहता है सपना सच होता है, अगर उसमें संघर्ष का साहस भी हो। इसलिए, साहित्य का काम सिर्फ सत्य से नहीं चलता है। साहित्य का संबंध जितना गहन सत्य से होता है उतना ही गहन संबंध सपना से भी होता है; सपना में तो सपना ही सत्य होता है। साहित्य के सत्य में सपनों का संपुट होता है। साहित्य के सत्य में संपुट सपने को बार-बार उद्घाटित करना साहित्य की आलोचना का दायित्व है। सपनों का संबंध दमित इच्छाओं से होता है। जीवन में 'काम' का महत्त्व कम नहीं है, लेकिन सारी इच्छाएँ 'काम' से ही संबंधित नहीं होती हैं। दमन सिर्फ कामेच्छाओं का ही नहीं होता है। बेहतर सामाजिक-नागरिक जीवन हासिल करने की इच्छाओं का भी दमन होता है। साहित्य सत्य और सपने के सहमेल के एवं सामंजस्य के लिए कल्पनाओं का सहारा लेता है। 'कल्पना दो प्रकार की होती है— विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक।'[20] विधायक और ग्राहक कल्पना अलग-अलग नहीं एक साथ सक्रिय रहती हैं। आलोचना का काम शुरू तो होता है ग्राहक कल्पना से लेकिन उसकी पृष्ठभूमि में विधायक कप्लना भी सदा सचेत रहती है। समय और समाज में स्थिति के आधार पर ही नहीं खुद आलोचक के अपने व्यक्तिगत अवस्थान के आधार पर भी ग्राहक और विधायक कल्पना की निर्मिति में नये-नये आयाम प्रकट होते रहते हैं। विधायक कल्पना साहित्य सृजन के साथ ही स्थिर हो जाती है। ग्राहक कल्पना सदैव गतिशील रहती है। आलोचना स्थिर विधायक कल्पना और गतिशील ग्राहक कल्पना को समन्वित और समेकित करने के लिए सतत संघर्ष करती है। इसी संघर्ष के क्रम में रचना का नया-नया पाठ आलोचना ढूढ़ लाती है। आलोचना इस नये पाठ को, समाज विकास के एक

संस्तर और एक चरण से दूसरे संस्तर और चरण तक संवहित करती हुई, सार्वजनिक-चित्त में टिकाये रखती है। सही आलोचना साहित्य की सहपाठी, अंतर्पाठी और सहेली होती है। आलोचना साहित्य के संघर्ष को भी सामने लाती है और उसके आस्वाद को भी सामने लाती है। आलोचना संघर्ष और आस्वाद को जोड़ती है।

आलोचना की संस्कृति और संस्कृति का जनतंत्र

आलोचना और जनतंत्र की चेतना का विकास साथ-साथ हुआ है। जहाँ आलोचना पहले विकसित हुई जनतंत्र की चेतना भी पहले वहीं विकसित हुई। अगर भारतीय परिप्रेक्ष्य को देखा जाये तो बाहरी उपनिवेश और आंतरिक उपनिवेश दोनों से मुक्ति की चाह में ही संप्रभुत्व-संपन्न-राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रीय-जनतंत्र की आकांक्षा का विकास हुआ। आज अगर एक साथ राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता और राष्ट्रीय-जनतंत्र के चरित्र को बाहरी और भीतरी दोनों ही ताकतों से खतरा है तो इसलिए कि ये दोनों ताकतें मिलकर यहाँ की विभिन्न सामाजिकताओं के बीच की ऊपरी दरारों के आभासों को विस्तारित एवं प्रभावी बनाकर राष्ट्रीय-जनतंत्र की विभिन्न सामाजिकताओं को नई गुलामी में जकड़ना चाहते हैं। इस काम में उनका सब से बड़ा हथियार होता है व्यापक पैमाने पर लोगों के बीच अंधविश्वास का प्रसार। इसके लिए आलोचनात्मक-बुद्धि का सामाजिक अनादर और अनालोचनात्मक मनोवृत्ति का सांस्कृतिक समादर सत्ता और शास्त्र, दोनों के लिए परम आवश्यक ही नहीं, परम अनिवार्य भी होता है। बैसाखियाँ इतनी मोहक, शोभनीय और उपयोगी कि लोग टाँग कटवाने के लिए तैयार! चश्मा इतना सुंदर कि लोग अंधे होने की झिझक से कोसों दूर! विज्ञापन ऐसे कि ज्ञान का आधार बन जाएँ! पट्टियाँ इतनी मोहक और सुहानी कि अधिकतर लोग अपनी आँख पर बँधवाने की सक्रिय ललक पालने लगते हैं! अनुरक्ति ऐसी कि सिर्फ गांधारी ही नहीं, पूरा कुनबा ही आँख पर पट्टी बाँधने को तैयार! आलोचना सावधान करती है। आलोचनात्मक-बुद्धि अपने सामाजिक अनादर से लड़ती हुई आलोचना के सांस्कृतिक समादर को हासिल करने के लिए समाज के सम्मुख बार-बार उपस्थित होती है।

साहित्य और आलोचना के गहरे संबंधों के आधार पर कुछ लोग यह मानते हैं कि आलोचना साहित्य की अनुवर्त्ती है। कठ-तर्क यह कि आलोचना के बिना साहित्य तो हो सकता है, लेकिन साहित्य के अभाव में आलोचना नहीं हो सकती है। ऐसा कहनेवालों का मूल किंतु प्रच्छन्न इरादा क्या होता है! इस पर विचार किया जाना चाहिए। ऐसे लोग आलोचना को साहित्य तक सीमित कर उसको अपंग कर देना चाहते हैं। आलोचना को मनुष्य की संस्कृति से जोड़े जाने पर इन्हें खास एतराज होता है। ऐसे लोग, साहित्य को स्वायत्त बताते हुए उसे समाज के अन्य उद्यमों से काटने की कोशिश करते हैं। ऐसे लोग, समाज को संवेदना और विचार दोनों से विच्छिन्न कर देते हैं। ऐसे लोग, 'आलोचना की संस्कृति' और 'संस्कृति की

आलोचना' दोनों को विकलांग बनाते हुए 'विचाधारा के अंत' की घोषणा करनेवाली विचारधारा को बल पहुँचाते हैं। ऐसे लोग, यह मानने को तैयार नहीं होते हैं कि आलोचना सहित मनुष्य के सारे सद-उद्यमों का परम लक्ष्य जीवन को मनोरम, समृद्ध और समता के भाव-बोध से निबद्ध करने के दायित्व से सहज संबद्ध होता है, स्वायत्त नहीं। थोड़ी-बहुत ही सही लेकिन इस नकली ओर छलिया 'स्वायत्तता' को आभासी सामाजिक-वैधता कहाँ से मिलने लगती है, इस पर विचार कर लेना जरूरी है। असल बात यह है कि मनुष्य के मन में स्वतंत्रता के प्रति जन्मजात आग्रह होता है। स्वायत्तता में इस स्वतंत्रता का अंतर्भाव निहित रहता है। स्वतंत्रता की आंतरिक चाह मनुष्य को कई बार परतंत्रता के गह्वर में डाल देती है। स्वायत्तता की इस परियोजना का पराक्रम मनुष्य के समताकांक्षी सपने में छिपा होता है। इसलिए आलोचना को स्वायत्तता के चाल-चरित को समझना होता है।

जीवन स्वतंत्र नहीं हो और साहित्य स्वायत्त हो, क्या यह संभव है! अनुभव तो यही बताता है कि जिस समाज-व्यवस्था में जीवन जितना स्वायत्त होता है, साहित्य भी उतना ही स्वायत्त होता है। जीवन की स्वायत्तता का यह प्रसंग राजनीति और संस्कृति के अंतर्संबंधित सरोकारों के भीतरी प्रसंगों से समझा जा सकता है। यदि भारतीय अनुभवों की बात करें तो अंग्रेजीराज में गुलामी के दिनों को याद करना होगा। यह बड़े अचरज की बात है कि बाहरी और राजनीतिक गुलामी के दिनों में अप्रतिबद्ध आंतरिक और सांस्कृतिक स्वायत्तता के बदले जीवन के प्रति समतामूलक मानवतावादी आकांक्षाओं का प्रतिबद्ध आग्रह अधिक सक्रिय था। क्या विडंबना है कि गुलाम भारत के पढ़े-लिखे और समझदार माने जानेवाले अधिकतर लोग मानसिक रूप से, अपेक्षतया, अधिक आजाद थे, जबकि आजाद भारत के पढ़े-लिखे और समझदार माने जानेवाले अधिकतर लोग मानसिक रूप से अधिक गुलाम प्रतीत होते हैं। इस विडंबना को समझने की कोशिश करें तो इसका प्रमुख कारण आज पढ़े-लिखे और समझदार माने जानेवाले लोगों के मानस में आलोचना के लिए निरंतर सिकुड़ते हुए स्थान में मिल जायेगा। अब यहाँ एक प्रखर और दु:साध्य सवाल हमारे सामने यह खड़ा हो जाता है कि क्या हम अंग्रेजीराज के दिनों की समाज-व्यवस्था में सांस्कृतिक रूप से अधिक आजाद थे? नहीं ऐसा नहीं है। असल बात यह है कि आजादी को समझने तथा बरतने के आग्रह और सामाजिक साहस में इन दिनों भारी क्षरण हुआ है। इस क्षरण के कारणों को खोज निकालने की जरूरत है। राज और समाज के नये द्वंद्व में हमारा पल्ला राज की ओर अधिक झुकता गया है, जबकि राज अपने को बाजार के हाथों बेचने के लिए तत्पर है। आभासी स्वायत्तता के आग्रह के कारण नैसर्गिक सामाजिक अंतर्निर्भता में भयानक क्षरण हुआ है। भूमंडलीकरण के दौर में इस क्षरण का अपना खास अर्थ है। आज तो, दूसरे के हिस्से की आजादी के रकबे को अपने हिस्से में दबाने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इस बढ़ाव से जीने की एक-से-बढ़कर-एक कठिन शर्तें निकलने लगीं हैं, 'अतिक्रमण के समाज में जीवति रहने के लिए/ सबसे पहले दूसरे के हिस्से की जगह चाहिए/ फिर दूसरे के हिस्से की स्वतंत्रता// किसी नयी वस्तु को ले

सकने की सामर्थ्य बताता है/ कितना दबाया है दूसरे के जीवन का रकबा/ और पृष्ठभूमि में से झाँकती हैं कितनी वस्तुएँ/ इन बातों से ही फिर बनने लगती है/ दुनिया में किसी की आदरणीय पहचान।'[21] आज आजादी के अर्थ को बदलने की खतरनाक कोशिश हो रही है। आजादी के वास्तविक अर्थ को बाराबर उजागर करते रहना आलोचना का दायित्व है।

संस्कृति के आँगन में 'स्वायत्तता' के जादू के खेल का अपना इतिहास है। हित के नाम पर हत्या का सिलसिला नया नहीं है। अंग्रेज भी हमें सुसंस्कृत बना रहे थे, आजादी का अर्थ सिखा रहे थे! अमेरीका को भी अफगानिस्तान और इराक में ही नहीं पूरी दुनिया में आजादी सुनिश्चित करने की अपनी प्रतिबद्धता दुहराने में हलकान होते देखा जा रहा है। अमेरीका उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण का 'तिरगुन फँस कर में लिये' पूरी दुनिया के हित के लिए कमर कसकर निकल पड़ा है! 'स्वायत्तता' की जरूरत और सार्थकता का संकेत नागार्जुन की कविता से मिल सकता है, 'सलिल को सुधा बनाएँ तटबंध/ धरा को मुदित करें नियंत्रित नदियाँ/ तो फिर मैं ही रहूँ निर्बंध!/ मैं ही रहूँ अनियंत्रित!/ यह कैसे होगा?/ यह क्योंकर होगा?// भौतिक भोगमात्र सुलभ हों भूरि-भूरि,/ विवेक हो कुंठित!/ तन हो कनकाभ, मन हो तिमिरावृत्त!/ कमलपत्री नेत्र हों बाहर-बाहर,/ भीतर की आँखें निपट-निमीलित!/ यह कैसे होगा?/ यह क्योंकर होगा?'[22] 'स्वायत्तत्ता' को समझने के लिए 'कमलपत्री नेत्र' की नहीं 'भीतर की आँख' की जरूरत है। सभ्यता के भीतर की यही आँख आलोचना है। आलोचना उच्छृँखलता और स्वतंत्रता के भेद को खोलती है। 'उच्छृँखलता' और 'स्वाधीनता' ये दो पृथक वस्तुएँ हैं। दुर्बल हृदय के लोग शंका करते हैं कि दिमागी आजादी मानसिक उच्छृँखलता का ही रूपांतर हो सकती है। ऐसे मनुष्य यह सोचते तक नहीं कि स्वतंत्रता की भावना एकांगी नहीं होनी चाहिए। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक अथवा अन्य कोई भी स्वाधीनता जिस प्रकार आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार हृदय और बुद्धि की स्वाधीनता आवश्यक है।'[23] क्या बिडंबना है कि जिस मानस में तुलसीदास ने नारी के दुख को उनकी परतंत्रता से जोड़ा उसी मानस में तुलसीदास ने नारी के बिगड़ने को उनकी स्वतंत्रता से जोड़ दिया!

समाज और आलोचना

जीवन का विन्यास अपने रचाव में अद्भुत है। जीवन के इस रचाव को देखने से विज्ञान का कला पक्ष भी साफ-साफ नजर आता है और कला का विज्ञान-पक्ष भी साफ-साफ नजर आता है। साहित्य और आलोचना दोनों का संबंध जीवन से है। साहित्य जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति है। आलोचना जीवन की इस कलात्मक अभिव्यक्ति के वैज्ञानिक आधार का रचाव है। जीवन में आलोचना के लिए सम्मान न बचे तो साहित्य में कहाँ से बचेगा!

आलोचना की सामाजिकता की किसी भी तलाश में हमें बार-बार जीवन के खुले आँगन में जाना ही होगा। वह कौन-सा विचार है जो 'बुद्ध की मुस्कान' पर परमाणु विस्फोट करता हुआ अपने चेहरे पर बुद्ध की मुस्कान चिपकाये, बुद्ध के शरण में जाने का स्वाँग रचाता है, खुले आम! पूछना ही होगा कि आज जीवन को जारी रखने के लिए आवश्यक फसल उगानेवाले दुखसह होरी के वंशधर फसलों के दुश्मनों के नाश के लिए इजाद किये गये रसायन से अपना प्राण नाश करने पर क्यों विवश हो रहे हैं, क्यों भून दिया जा रहा है उन्हें गोलियों से? क्यों धनिया का आँचल आज पहले से अधिक तार-तार है? पथ के पत्थर को तोड़ती आजाद देश की सृजन चेतना आज भी यही क्यों कह रही है कि देखकर भी किसी ने मुझे देखा नहीं उस नजर से!

न सिर्फ आलोचना की सामाजिकता को नये सिरे से समझने की जरूरत है, बल्कि सामाजिकता की आलोचना को भी नये सिरे से समझना जरूरी है। क्योंकि, आज के परिप्रेक्ष्य में आलोचना को जीवन से खदेड़ने की कोशिश नये सिरे से की जा रही है। आज जीवन में अनालोचन के महत्त्व को बढ़ाया जा रहा है। हर किसी को अपने-अपने 'सद्‌गुणों' के बखान और विज्ञापन की पूरी छूट है। बात इतनी ही नहीं है, अपने और दूसरे के 'दुर्गुणों' को सद्‌गुणों' के रूप में प्रचारित के बारे में समझदारी भरी चुप्पी के सांस्कृतिक मर्म के प्रति आदर के महत्त्व को समझा और समझाया जा रहा है। इनके समर्थक कह सकते हैं कि आज के इस अनालोचन में 'गुणग्राहकता' बढ़ी ! 'गुन न हिरानो हैं, गुन ग्राहक हिरानो हैं' एक 'बीती हुई बात' है! अब न तो 'गुन' की कोई कमी है और न 'गुनग्राहकों' की ही कमी है! कमी है तो कंचन की, हिरण्य की। उस 'कंचन' की जिसके आश्रय में ही सारे 'गुण' रहते हैं। कमी है तो 'हिरण्य' की, जिसके गर्भ में सत्य का सदावास सांस्कृतिक अध्यायों में बताया जाता रहा है। इसलिए अनालोचन के महत्त्व को बढ़ाये जाने के मनोविज्ञान को समझने के लिए असमान अर्थ-विश्व के समर्थ अर्थ-प्रभुओं की विश्वाकांक्षा के आर्थिक परिप्रेक्ष्य को समझना होगा। इसके आर्थिक प्रयोजनों से राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक यथा-स्थितिवाद के संपोषण के लिए एक मुहावरा ही बनाने की कोशिश हो रही है कि जो जैसा है वह वैसा और केवल वैसा ही हो सकता है। इसे पूरी तरह स्वीकार किया जाये या फिर पूरी तरह से अस्वीकार किया जाये। इसमें किसी प्रकार के परिवर्त्तन या 'मीन-मेष' अन्वेषण का अधिकार 'बाहरी' तत्त्व को नहीं है। 'मीन-मेष' अन्वेषण करनेवाले को 'बाहरी' तत्त्व बताया जा रहा है!
बाजार आज का विश्व है। इस विश्व में जो बिक सके वही महत्त्वपूर्ण है। आज नये सिरे से आलोचनात्मक विवेक को समाप्त करने की कोशिश के तहत आलोचनात्क सोच को 'दुष्टता' की परिधि में धकेलने की प्रचेष्टा की जा रही है। संस्कृति के परिगठन के काल से ही आलोचन और अनालोचन का द्वंद्व चलता रहा है। धर्म और विज्ञान के विकास के टकरावों के

मूल में आलोचन और अनालोचन का यह द्वंद्व साफ-साफ समझ में आ सकता है। इस द्वंद्व में धर्म, जो अधिक-से-अधिक उपदेश के क्रम को आगे बढ़ाने में उपयोगी जिज्ञासाओं को कुछ हद तक स्वीकार करता है, लेकिन किसी भी स्तर पर अपनी वास्तविक आलोचना को बर्दाश्त नहीं करता है, विश्वास इनका प्रमुख सांस्कृतिक मित्र है और संदेह इनका प्रमुख सांस्कृतिक शत्रु। धर्म के साथ सत्ता की दुरभिसंधियों के कारणों को पहचाना जा सकता है। आलोचना के प्रति इस रवैया के पुराने सिरे और नये सिरे में लक्ष्य की समानता निश्चित रूप से है। और यह समानता है मनुष्य की बड़ी आबादी को शोषण की जकड़न में डाले रखना। इस लक्ष्य की समानता को पहचानना और पण्य एवं पुण्य के अंतस्संबंधों को उद्घाटित करना आलोचना की संस्कृति और सामाजिकता पर बात करने के लिए जरूरी है।

सामाजिक सरोकार से जुड़े जन-लेखन के महत्त्व को नये सिरे से समझना आलोचना की सामाजिकता की प्राथमिक जरूरत है। सामाजिक सरोकार की तलाश में इस यांत्रिकता से आज मुक्त होने की जरूरत है। जरूरत हर प्रकार की यांत्रिकता के खतरे को पहचानने और उस के साथ रचनात्मक संघर्ष को चलाये रखकर उस के सर्वात्मक दुष्प्रभाव से जीवन को बचाने का है। नामवर सिंह के शब्दों में 'जन-लेखकों का निर्माण,निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है।'[24] आज के लेखक को यांत्रिकता की चपेट से जीवन को बचाने के सांस्कृतिक उपक्रम के लिए इस कठोर अग्निदीक्षा के लिए तैयार होना ही होगा। 'आज के लेखक' में निश्चित तौर पर आलोचक भी शामिल हैं। शामिल ही नहीं हैं, बल्कि आलोचकों का दायित्व दुहरा है। पिछली सदी गवाह रही है कि यांत्रिकता के खतरों का जितना दुष्प्रभाव रचना पर पड़ा उस से कहीं अधिक आलोचना पर पड़ा है। यह भी कि रचना पर यांत्रिकता का प्रभाव मुख्य रूप से आलोचना के मार्फत ही पड़ता है। इसलिए, आलोचना को यांत्रिकता के खतरों के दुष्प्रभाव से न सिर्फ अपने को बचाने के लिए संघर्ष करना है बल्कि रचना को यांत्रिकता के खतरों की चपेट में आने से बचाने के लिए भी सचेष्ट और स-तर्क होकर संघर्षशील होना है। रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही स्तरों पर आलोचना के सामाजिक सरोकार के पुनर्अन्वेषण से ही यह काम सधेगा।

आलोचनात्मक विवेक की जड़ से ही प्राणरस पाकर जीवन-विवेक, कवित्त-विवेक, सामाजिक-विवेक जैसे अनेक फूल खिलते हैं। इन फूलों की नाना पंखुड़ियों के खिलने से ही जीवन की बगिया में बहार आती है। मुक्तिबोध बताते हैं, 'काव्य में केवल अवचेतन या अचेतन मन ही प्रकट नहीं होता है; कवि के अनजाने, अचेतन रूप से उस कवि का चरित्र भी प्रकट होता जाता है। कवि का जो कथ्य है, वह भिन्न है। अपने चरित्र की अभिव्यक्ति कवि का कथ्य नहीं है। फिर भी काव्य में कलाकार का चरित्र प्रकट होता रहता है। दूसरे शब्दों में, कवि अपने हृदय में संचित तत्त्वों का जो चित्रण करता है, उन तत्त्वों के अतिरिक्त वह अन्य

अनेक बातें सूचित कर जाता है, कह जाता है, चित्रित कर जाता है। हाँ वैसा करना उसका उद्देश्य बिल्कुल नहीं है। वह तो केवल अपना कथ्य प्रस्तुत कर रहा है। कथ्य शब्दबद्ध करना ही उसका उद्देश्य है। किंतु कथ्य चित्रित करने के साथ-साथ कवि अपने अनजाने में बहुत कुछ और कह जाता है। संक्षेप में, कवि कथ्य के माध्यम से अपने अनजाने में अपना चरित्र प्रस्तुत कर जाता है। चरित्र अंतर और बाह्य से सामंजस्य की स्थापना के, द्विविध और द्वंद्वात्मक किंतु एकीभूत प्रयत्नों की प्रक्रिया में, उस प्रक्रिया के दौरान में, वह बनता और बढ़ता है, निर्मित और विकसित होता है। सहस्रों वर्षों से चली आ रही वर्गविभाजित सभ्यता के अंतर्गत, व्यक्ति-चरित्र अपने वर्ग के तत्त्वों को आत्मसात करता है, बिल्कुल बाल्यकाल से ही। ये वर्ग तत्त्व हैं–– जीवन-यापन-पद्धति और आदर्श दृष्टिकोण, जीवन-मूल्य तथा भावों की वह परंपरा, जो समाज के भीतर अपने वर्ग में उपस्थित मानव-संबंधों तथा मानव-स्थिति के बारे में होती है, तथा वर्गाभ्यांतर मानव-स्थितियों और मानव-संबंधों में कुछ फेरफार होते ही, जो (भाव-परंपरा) बदलने लगती है।'[25] इस 'जीवन-यापन-पद्धति' पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उत्पादन , वितरण और समाज विकास के विभिन्न चरणों में मानवीय संबंधों में बदलाव का असर 'जनता की चित्तवृत्ति' पर पड़ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जनता की चित्तवृत्ति में होनेवाले बदलाव को युग पविर्त्तन का लक्षण मानते थे। प्रेमचंद भी मानते थे कि 'समाज का संगठन आदिकाल से आर्थिक भीत्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न से आँखें बंद करके समाज का कोई दूसरा संगठन चल नहीं सकता।'[26] पिछले बीस-पच्चीस साल में युगांतकारी भौतिक परिवर्त्तन हुए हैं। परिवर्त्तन यह कि 'आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी ज्ञान के आधार पर दुनिया इतनी आजाद पहले कभी नहीं थी और न इतनी अन्यायपूर्ण!'[27] मुट्ठी भर लोगों ने दुनिया मुट्ठी में कर ली है! थोड़े-से लोगों के लिए दुनिया 'आजाद' और बहुत सारे लोगों के लिए 'अन्यायपूर्ण' हो गई है। नैतिक-चेतना से मुक्त 'आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी ज्ञान' के आधार पर होनेवाले विकास का व्याकरण विषमता का अनुमोदन करता है। ध्यान में रखना होगा कि 'मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है–– आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है।... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही

अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[28] रोजगार का सवाल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं नैतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

'विषयभोग' और 'तप' की दो परम अतियों के त्याग और 'मध्यम मार्ग' को अपनाने का संदेश देनेवाले महात्मा बुद्ध ने 'दुखों' से मुक्ति के लिए 'अष्टांगिकमार्ग' का संधान किया था; 'सम्यक् कर्मांत' और 'सम्यक् आजीविका' उनमें से दो मार्ग हैं। यह बात बिल्कुल साफ है कि जिस सभ्यता में 'सम्यक् आजीविका' के अवसर कम होते हैं, उस सभ्यता में 'सम्यक् कर्मांत' का पालन करते हुए भी मनुष्य के दुखों का अंत नहीं हो सकता है। संसार का सबसे बड़ा दुख भूख है। दुनिया में भूख के रहते नैतिकता की बात बेमानी होकर रह जाती है। नैतिकता पर चिंता करनेवालों को भूख के बारे में सोचना होगा, साथ ही आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने के उपायों के बारे में भी साचेना होगा। प्रोफेसर अमर्त्य सेन कहते हैं, 'आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने के लिए अकालों की सृष्टि की प्रक्रिया को ठीक से समझना जरूरी है। यह केवल अनाजों की उपलब्धता और जनसंख्या के बीच किसी मशीनी संतुलन का मामला नहीं है। भूख के विश्लेषण में सबसे अधिक महत्त्व व्यक्ति या उसके परिवार की आवश्यक मात्रा में खाद्य भंडारों पर स्वत्वाधिकार स्थापना की स्वतंत्रता का है। यह दो प्रकार से संभव है: या तो किसानों की तरह स्वयं अनाज का उत्पादन करके या फिर बाजार से खरीदी द्वारा। आसपास प्रचुर मात्रा में अनाज उपलब्ध रहते हुए भी यदि किसी व्यक्ति की आय के स्रोत सूख जाएँ तो उसे भूखा रहना पड़ सकता है।... कुपोषण, भुखमरी और अकाल सारे अर्थतंत्र और समाज की कार्यपद्धति से भी प्रभावित होते हैं (केवल खाद्यान्न-उत्पादन और कृषि कार्यों का ही इन पर प्रभाव नहीं पड़ता)। आर्थिक-सामाजिक अंतर्निभरताओं के आज के विश्व में भुखमरी पर पड़ रहे प्रभावों को ठीक से समझना अत्यावश्यक हो गया है। खाद्य का वितरण किसी धर्मार्थ (मुफ्त में) अथवा प्रत्यक्ष स्वचालित विधि से नहीं होता। खाद्य सामग्री प्राप्त करने की क्षमता का उपार्जन करना पड़ता है।... खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा/ बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं उपलब्धिता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।'[29] भूख से बचने का एक मात्र रास्ता 'आधिकारिता' है, जिसको 'सम्यक् रोजगार' से ही हासिल करना संभव है। रोजगार के अभाव में आदमी हर अच्छे एहसास से दूर होता जा रहा है; 'दुनिया ने तेरी याद से बेगान: कर दिया/ तुझ से भी दिलफ़रेब है ग़म रोजगार के'[30]।

रोजगार अर्थात जीवन-यापन पद्धति को समझने के प्रयास में आलोचना अगर पिछड़ जाती है तो वह जीवन को कैसे समझ पायेगी! आलोचना जीवन के नैतिक आधारों की वैधता को बार-बार जाँचती-परखती है। जीवन के नैतिक आधार में भारी क्षरण के कारण आलोचना का दायित्व भी पहले कहीं अधिक बढ़ा हुआ है। 'आज अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों ने मानवीय रिश्तों को बिगाड़ने की प्रक्रिया में वह स्थिति पैदा कर दी है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करनेवाले जन मानवीय अधिकार की अपनी हर लड़ाई को एक पराजय बनता हुआ पा रहे हैं। संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्त्ति करती दिखायी दे रही हैं जिनके विरुद्ध संघर्ष है क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया है। न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान ही तय होना चाहिए। कवि इस संघर्ष में बार-बार मानवीय रिश्तों की खोज करेगा और उनको जाँचेगा, सुधारेगा, बनायेगा और फैलायेगा। ये संबंध हृदय परिवर्तन से नहीं बनेंगे, संघर्ष के नतीजों की बार-बार जाँच से बनेंगे।'[31] इस जाँच-परख में आलोचना को अपना मन लगाना है। आज आलोचना का काम सिर्फ काव्य से नहीं चल सकता है, उसे मन की पूरी पवित्रता और बुद्धि की संपूर्ण दक्षता के साथ समाज के पास भी पहुँचना होगा।

आलोचना सामाजिक संघर्ष में रचना के कंधे-से-कंधा लगाकर संघर्ष करती है। क्योंकि, 'साहित्य सामाजिक जीवन की ही ऊपज होता है, और समाज के लिए ही उसकी सार्थकता भी होती है। लेखक के लिए यह अनुभूति भी बड़ी संतोषजनक होती है कि कहाँ पर जीवन की गहराई में उतर पाया है, मात्र छिछले पानी में ही नहीं लोटता रहा, कहीं जीवन के गहरे अंतर्द्वंद्व को पकड़ पाया है। उस अंतर्विरोध को, जो हर युग और काल में समाज के अंदर पाए जानेवाले संघर्ष की पहचान कराता है, उन शक्तियों की भी जो समाज को यथास्थिति में बनाए रखना चाहती हैं, दूसरी ओर उन तत्त्वों को भी जो समाज को आगे ले जाने में सक्रिय हैं, इस अंतर्विरोध को पकड़ पाना कहानी लेखक के लिए एक उपलब्धि के समान होता है।'[32] आलोचना रचना के साधारणीकरण की प्रक्रिया को तो आगे बढ़ाती है, उसके सामान्यीकरण के लिए भी सतत सचेष्ट रहती है। सामान्यीकरण की यह प्रक्रिया साहित्य के सामाजीकरण की दिशा में आगे बढ़ती है। पाठक और श्रोता अर्थात ग्राहक को, सामाजिक कहे जाने को सार्थक बनाती है। जीवन के अंतर्द्वंद्व को देखने-पहचानने में आलोचना दीपक की भूमिका अदा करती है। आलोचना रचनात्मक संकेतों को सामाजिक अनुभवों के आलोक में 'डी-कोड' करती है।

आलोचना का प्रयोजन

रचना और आलोचना के द्वंद्व तो अपनी जगह होते ही हैं, रचनाकार और आलोलचक के द्वंद्व भी कम महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प नहीं होते हैं। रचनाकारों की शिकायतें कुछ हद तक सही

होती हैं। लेकिन आलोचकों की अपनी दिक्कतें होती हैं। केदारनाथ अग्रवाल हिंदी के प्रतिष्ठित कवि हैं, उनकी टिप्पणी गौर करने लायक है, 'इधर मेरे कृतिकार को नकारने का प्रयास कुछेक व्यक्तियों ने किया है। मैंने इसे, किसी आधार पर उचित नहीं समझा। मैंने इसके प्रतिवाद में उन प्रयासकर्त्ताओं को आगाह किया है और उन्हें बताया है कि मेरे किये दिये को कोई नष्ट नहीं कर सकता है–– मैं उनके किसी भी प्रयास से परे हूँ और वे मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। यह उनकी सामर्थ्य के बाहर है कि मेरे कृतिकार का बाल बाँका कर सकें। ऐसा करना आवश्यक समझ कर ही मैंने इस संबंध में वे कविताएँ लिखीं और इस संकलन में दीं। मैं नहीं जानता कि मेरी इन कविताओं का इन प्रयासकर्त्ताओं पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि वे थोड़ी देर के लिए भी अपने ऐसे किये पर सोचने को विवश हुए तो मैं समझूँगा कि मेरा प्रतिवाद करना सार्थक हुआ। यदि वे सोच में न पड़े और दिग्भ्रमित ही बने रहे तो मैं समझूँगा कि वे मेरी दया के पात्र हैं। मेरे काव्य के प्रेमी और दूसरे लोग भी उन्हें दया का पात्र समझेंगे। अच्छा होता कि प्रयास यह होता कि मेरी कविताओं का पूरी तरह से अध्ययन किया जाता और तब उसके गुण-दोष की विवेचना प्रस्तुत की जाती। ऐसा करने से मुझे भी अपने दोषों का ज्ञान होता ओर भविष्य में उन से बचने की पूरी कोशिश करता। यदि वैसी विवेचना भी तर्कसंगत न ठहरती तो मैं उसका भी तर्कसंगत उत्तर देता। ऐसी आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक प्रक्रिया से कवि-कर्म का महत्त्व उजागर होता और दूसरों को सही दृष्टि और दिशा मिलती। खेद है साहित्य में भी आतंक फैलाने की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी है।'[33] 'साहित्य में आतंक फैलाने की प्रवृत्ति' पर ध्यान देना चाहिए। क्या साहित्य में आलोचना का आतंक सक्रिय होता है! यह सच है कि आलोचना की ओर से बिल्कुल बेखबर रहना आज रचनाकार के लिए संभव नहीं है। शायद पहले भी नहीं था। लेकिन आतंक कुछ ज्यादा ही बड़ा शब्द है। नागार्जुन आलोचना की कठिनाई को कुछ हद तक समझते तो हैं लेकिन एक तरह की शिकायत वहाँ भी तो है ही, 'समकालीन आलोचकों में किसी जीवित साहित्यकार के प्रति संतुलित दृष्टि शायद ही मिलती है। आज से 35-40 वर्ष पहले प्रेमचंद की जो आलोचना होती थी, अब की आलोचना उससे अधिक सामंजस्यपूर्ण लगती है। 50 वर्ष बाद जो आलोचना होगी प्रेमचंद की वह और समीचीन होगी। एक समय था कि कलावादी आलोचक नगेंद्र ने प्रेमचंद को 'द्वितीय कोटि का साहित्यकार' घोषित किया था, परंतु हिंदी संसार ने इस घोषणा की तरफ कान ही नहीं दिए। आलोचक लाख ठप्पा लगाएँ, कोटि निर्धारण की अपनी अलग कसौटी होती है। जनता की आलोचना की वस्तुवादी दृष्टि में भी हेर-फेर होते रहेंगे। 1951-52 के आगे-पीछे सोवियत आलोचक बेस्क्रोवनी या हमारे रामविलास ने प्रेमचंद को जिन निगाहों से देखा, आगे 1971-72 में भावी आलोचक उन्हें और अच्छी तरह देखेंगे। जन साधारण का पक्षधर होना क्या भविष्य में भी इसी तरह दोष माना जाएगा कि प्रेमचंद की कीर्ति अब और अधिक नहीं फैलेगी?'[34] ध्यातव्य है कि तमाम शिकायतों के बावजूद 'और अच्छी तरह देखने' की उम्मीद तो 'भावी आलोचक' से ही बनती

है! जाहिर है आलोचना की जरूरत और आलोचना का प्रयोजन साफ-साफ समझ में आने लायक है।

विचारधारा और साहित्य के संबंधों को लेकर कुछ भिन्न तरह के आग्रह रखनेवाले लोग भी आलोचना के महत्त्व को कम करके नहीं आँकते हैं। 'कुछ पूर्वग्रह' में 'आलोचना की जरूरत' पर ध्यान देते हुए अशोक वाजपेयी जो निष्कर्ष निकालते हैं उन पर ध्यान देना चाहिए, उन्हीं के शब्दों में, ''ऐन इस वक्त आलोचना-बुद्धि को एकाग्र सक्रिय रखना और उसे रचनात्मक प्रयत्न का अनिवार्य तत्त्व बनाना, संघर्ष की सार्थकता और और उसके सफल और कारगर होने की संभावना बढ़ाना है। संघर्ष के संदर्भ में ईमानदारी की ऐसी कोई भी परिभाषा अधूरी और ना काफी होगी जो आलोचना-बुद्धि की अनिवार्यता को स्वीकार न करती हो।'' आगे वे यह भी बताते हैं, 'आज का अधिकांश लेखन सामाजिक यथार्थ से सीधे जुड़ा हुआ है और प्राय: इसका रचनात्मक अन्वेषण करता और उस पर निर्णय देता है। आलोचना भी अंतत:, आज भी आदमी की हालत की पड़ताल है, भले ही ऐसा करने में वह साहित्य और कलाओं का सहारा लेती है। उसके पास भी सामाजिक यथार्थ के सीधे अनुभव और वस्तु-स्थिति की अपनी समझ है। जाहिर है इस समझ का वह समकालीन लेखन को जाँचते परखते वक्त इस्तेमाल करेगी।'[35] ध्यान देने की बात यह है कि यदि 'आलोचना भी अंतत:, आज भी आदमी की हालत की पड़ताल है' तो आम आदमी की हालत को समझने के लिए आलोचना को साहित्य की परिधि के बाहर भी झाँकने की जरूरत होगी ही। किसी 'स्वयात्तता' के नाम पर जीवन के यथार्थ से इतर की गुंजाइश कम ही बनती है। साहित्य का यथार्थ और यथार्थेतर भी एक तरह से जीवन-यथार्थ का ही अन्वेषण करता है। साहित्य के यथार्थ और जीवन के यथार्थ के अंतर और अंतरंग के संबंधों को ध्यान में बनाये रखना आलोचना का दायित्व है।

साहित्य का यथार्थ हो या जीवन का यथार्थ यह कभी भी न तो एकस्तरीय होता है और न एक आयामी। यथार्थ के कई पहलू होते हैं। 'जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ में एक अंतर होता है। वास्तविकता की झलक तो साहित्य में जरूर मिलती है, पर साहित्य मूल्यों से जुड़ा होता है। इसीलिए आदर्शवादिता के लिए साहित्य में तो बहुत बड़ा स्थान होता है, पर व्यावाहारिक जीवन में नहीं। इन मूल्यों में मानवीयता सबसे बड़ा मूल्य है। इस दृष्टि से साहित्य यथार्थ से जुड़ता हुआ भी यथार्थ से ऊपर उठ जाता है, लेखक यथार्थ का यथावत चित्रण करते हुए भी पाठक को यथार्थेतर स्तर तक ले जाता है जहाँ हम यथार्थ जीवन की गतिविधि को मूल्यों की कसौटी पर आँकते हैं। जीवन को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। इन में सच्चाई के अतिरिक्त न्यायपरता और जनहित, और मानवीयता आदि भी आ जाते हैं। मात्र यथार्थ की कसौटी पर सही साबित होनेवाली रचना हमें आश्वस्त नहीं करती। उसमें

मानवीयता तथा उससे जुड़े अन्य मूल्यों का समावेश आवश्यक होता है। और रचना जितना ऊँचा हमें ले जाए, जितनी विशाल व्यापक दृष्टि हमें दे पाए उतनी ही वह रचना हमारे मूल्यवान होगी।'[36] जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ के संबंध की समझ जीवन में साहित्य के प्रयोजन की समझ से उत्पन्न होती है।

'साहित्य में और जीवन में बहुत बड़ा अंतर भी है। साहित्य में भावनाएँ प्रमुख होती हैं, यदि साहित्य जीवन के यथार्थ से हमारा साक्षात भी कराता है तो मुख्यत: भावनाओं के माध्यम से। पर जीवन का व्यवहार मात्र भावनाओं के आधार पर नहीं चलतां वहाँ अपना हित, स्वार्थ, व्यवहारकुशलता, निर्मम होड़ की भावना आदि सब काम आते हैं।'[37] कहना न होगा कि साहित्य और जीवन में अंतर पर विचार करते समय सबसे पहले ध्यान में रखना चाहिए कि साहित्य जीवन के अंदर की घटना है जबकि जीवन साहित्य के भीतर की घटना नहीं है। साहित्य जीवन का अंतर्वर्त्ती और जीवन साहित्य का बहिर्वर्त्ती प्रसंग है। दोनों के संबंधों पर विचार करते समय अंतर्वर्त्तिता और बहिर्वर्त्तिता के संदर्भों को ग्रहण करने से विचारधारा, यथार्थ, यथार्थेतर आदि की समझ के उलझाव कम होते हैं। साहित्य और जीवन के यथार्थ पर बात शुरू करते ही कुछ लोग 'कथनी और करनी' के भेद को नैतिक प्रश्न के रूप में उठाते हैं। ऐसे प्रश्नों के महत्त्व को कम करके आँकना ठीक नहीं है, लेकिन 'कथनी' और 'करनी' के सकारात्मक अंतर और नकारत्मक अंतर को ध्यान में रखना आवश्यक है। आलोचना इस अंतर पर नजर टिकाये रखती है। इसके लिए आलोचना जीवन और साहित्य के प्रत्यक्ष और परोक्ष को एक ही दृष्टि-रेखा पर साधती है। आलोचना जीवन में निरंतर जारी प्रत्यक्ष और परोक्ष के बीच की आवाजाही को व्यवस्थित करती है; आलोचना जीवन में निरंतर जारी प्रत्यक्ष और परोक्ष के बीच की आवाजाही को विपथन से रोकती है। स्वस्थ आलोचना की संस्कृति के अभाव में जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष के बीच की आवाजाही को विपथन से रोक पाना मुश्किल होता है और संघ में संघात बढ़ जाता है।

साहित्य जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष को नये-नये ढंग से संयोजित करता है। इस संयोजन में साहित्य को विधायक और ग्राहक कल्पना से सहायता मिलती है। इस अर्थ में कल्पना ज्ञान का ही विस्तार है। क्योंकि 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।'[38] ज्ञान-प्रसार और भाव-प्रसार को एक दूसरे में रचाना-बसाना साहित्य में निरंतर जारी रहता है। इसी में काव्य का कौतुक और मनोरंजन का तत्त्व निहित रहता है। 'कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है वही और सब कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिसे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थिर किये रहती है, इधर-उधर जाने नहीं देती है।... कविता अपनी मनोरंजन शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त रमाये रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुंदरता या विरूपता

अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है।.... कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का परम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ।'[39] मानेरंजन के उपरांत क्या होता है! मनोरंजन के उपरांत ज्ञान और भाव का, प्रत्यक्ष और परोक्ष का संबंध पाठक-श्रोता के चित्त में सुस्थिर होकर उनके अंत:करण के आयतन को विस्तार देता है। आलोचना अंत:करण के इस विस्तार में विवेक को पुष्ट करती हुई जीवन की नैतिक-प्रवणता को प्राणवंत बनाती है। जीवन और साहित्य की अंतर्वर्त्तिता और बहिर्वर्त्तिता में नैतिक-प्रवणता को प्राणवंत बानाने के संदर्भ में आलोचना का प्रयोजन स्पष्ट होता है।

आलोचना और शास्त्र

जीवन अपने समय के प्रश्नों से घिरा और बिंधा होता है। आलोचना का संबंध प्रश्नाकुलता से है। शास्त्र अपनी अपरिवर्तनीयता में जीवन से दूर होकर अंतत: अपनी लोच खो देते हैं। आलोचना अपनी गत्यात्मकता के बल पर इस लोच को बराबर बनाये रखती है। रूपक में इस तरह कहा जा सकता है कि शास्त्र तट है और आलोचना नाव है। नामवर सिंह ने आलोचना के दायित्वों की ओर संकेत करते हुए ध्यान दिलाया है, 'आलोचना का कार्य बराबर रहा है प्रतिष्ठाओं के सामने, प्रतिष्ठितों के सामने प्रश्न चिह्न लगाना और जो उपेक्षित स्तर के हैं और भविष्य के लिए अपेक्षित हैं उन लोगों के लिए शर्म की बात नहीं है बल्कि प्रवक्ता बनना साहित्य धर्म और आलोचना के अनुशासन का पालन ही करना है। संघर्ष समाज में, जीवन में जिस तरह हक के लिए होता है उसी तरह से आलोचना में भी बराबर होता है। आलोचना संघर्ष की प्रक्रिया है आस्वाद नहीं।'[40] निश्चित रूप से आलोचना सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया है सिर्फ आस्वाद नहीं। यहाँ 'सिर्फ' बहुत महत्त्वपूर्ण है। जहाँ शासन ठीक नहीं वहाँ शासन का अनुसरण यानी अनु-शासन, चाहे वह काव्यानुशासन ही क्यों न हो, कैसे और कितना निरापद हो सकता है!

काव्य-शास्त्र या काव्यानुशासन और अलोचना में यही तो अंतर है कि काव्य-शास्त्र काव्य-शक्ति और शब्द-शक्ति दोनों को काव्य-संरचना की आंतरिक शक्ति मानकर चलता है जब कि आलोचना काव्य-शक्ति और शब्द-शक्ति को सामाजिक-संरचना की आंतरिक-शक्ति मानकर अपना काम करती है। काव्य-शास्त्र प्रतिमान तलाशता और बनाता है आलोचना प्रतिपथ तालशती और बनाती है। प्रतिमान अनुल्लंघ्य होते हैं और प्रतिपथ अनुसरणीय होते हैं। काव्य-शास्त्र आप्त-वचन बनाता और उसे प्रमाण मानता है। आलोचना प्रश्न करती है और किसी आप्त-वचन को प्रमाण नहीं मानती है। काव्य-शास्त्र काव्य को आस्वाद प्रक्रिया से जोड़ता है और आलोचना काव्य को आस्वाद के अतिरिक्त संघर्ष प्रक्रिया से भी जोड़ती है।

रचना और जीवन प्रक्रिया के संघर्ष को आस्वाद से जोड़ना आलोचना की संघर्ष प्रक्रिया का अनिवार्य हिस्सा है। संघर्ष में हर्ष के संपुट के लिए आवश्यक है कि सकारात्मक संघर्ष की हर प्रक्रिया को आस्वाद के आशय से संपृक्त किया जाये। इसके लिए आलोचना परखे हुए को बार-बार परखती है। और यह कोई निरपेक्ष परख नहीं होती है बल्कि अपने समय और समाज की सापेक्षता एवं प्रसंगानुकूलता में ही संभव होती है। इस प्रसंगानुकूलता और सापेक्षता की तलाश में अलोचना की सामाजिकता का प्रश्न उभरता है।

विचारधारा का सवाल और आलोचना का खयाल

आलोचना को अनिवार्यत: 'भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित' रचनाशीलता का सहारा लेना होता है। स्वभाविक ही है कि नामवर सिंह जब मार्क्सवाद को राजनीतिक दर्शन के साथ-साथ एक विश्व दृष्टि भी कहते हैं और रचना के लिए इस विश्व-दृष्टि को ही अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हैं तो उनके इस निष्कर्ष के मर्म को आज नये सिरे और नई अर्थवत्ता के साथ ग्रहण करने और बरतने की जरूरत है। इस ग्रहण और बरताव के लिए आलोचना में सामाजिक सरोकार के नवोन्मेष की अवश्यकता है। इस नवोन्मेष के संदर्भ में मुक्तिबोध के निष्कर्ष याद आते हैं, "साहित्य-समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होनेवाले ज्ञान-संवेदन तथा संवेदन-ज्ञान में ही है। इस ज्ञान-संवेदन और संवेदन-ज्ञान के परे जानेवाली 'समीक्षा' में न 'ईक्षा' यानी देखना या दृष्टि है, न सम्यकता। जब-जब समीक्षा इस मूलाधार को छोड़कर, विचारों की बारीकी और लक्ष्यों की ऊँचाई प्रदर्शित करने के गोपनीय या प्रकट उद्देश्य से, इधर-उधर भटकी है, उसने लेखकों और पाठकों को सच्ची सहायता देना छोड़ दिया है। कहा जाता है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिंब है। इस खंड-तथ्य को हम यों भी कह सकते हैं कि साहित्य में इन प्रतिबिंबों की रचना अनेक पैटर्न्स में होती है। जब तक समीक्षक उस जीवन को नहीं जानता, जिसके प्रतिबिंबों के विभिन्न पैटर्न्स में गुँथी हुई रचना की वह आलोचना करने बैठा है, तब तक वह समुद्र-दर्शन के नाम पर लहरें गिनता हुआ बैठा है। यदि वे लहरें आलोचक की बुद्धि की अज्ञाएँ न मानें तो इसमें आश्चर्य ही क्या! आलोचक या समीक्षक का कार्य, वस्तुत:, कलाकार या लेखक से भी अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है। उसे एक साथ जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है, और उससे उबरना भी पड़ता है, कि लहरों का पानी उनकी आँख में न घुस पड़े। अपने वर्ग, समाज या श्रेणी की जिंदगी में अपनी जिंदगी की सही हिस्सेदारी के बगैर, जो समीक्षक उस जिंदगी के प्रतिबिंबों के पैटर्न्स का मूल्यांकन करने बैठता है, वह कभी भी सच्ची आलोचना नहीं कर सकता।"[41] विचारधारा कई बार आलोचना से अधिक शास्त्र के निकट खड़ी होने की कोशिश करती है। इसी कोशिश के कारण विचारधारा, आलोचना और रचना में एक तरह का अंतर्द्वंद्व भी उपस्थित होता है। यह सच है कि 'प्रत्येक लेखक अंतत: अपने संवेदन, अपनी दृष्टि, जीवन की अपनी समझ के अनुसार लिखता है। हाँ, इतना जरूर

कहूँगा कि मात्र विचारों के बल पर लिखी गई रचना, जिसके पीछे जीवन का प्रामाणिक अनुभव न हो, अक्सर अधकचरी रह जाती है।'[42] जीवन के अनुभवों की प्रामाणिकता की तलाश में आलेचना की सह-भूमिका के महत्त्व को समझा जा सकता है।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया को जीवन-विवेक अंतर्संयुक्त--- अंतर्ग्रंथित[43] और अंतर्बंधित[44] --- करता है। जीवन-विवेक सक्रिय होते ही आलोचनात्मक हो जाता है। अपने इसी आलोचनात्मक जीवन-विवेक के सहारे मनुष्य कर्मनाशा अवरोधों को दूर करने की कोशिश करता है। मुक्तिबोध बताते हैं, 'साहित्य-विवेक मूलत: जीवन-विवेक है। इसलिए जीवन से दूर अपनी आराम कुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक, बड़ा विद्वान ही क्यों न हो, जीवन का वैज्ञानिक विवेचन नहीं कर सकता, फिर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति से विश्लेषण की बात ही क्या! बगैर जीवन को जाने, बगैर जिंदगी को पहचाने, जो आलोचक केवल जीवन की गूँजों (साहित्यिक अभिव्यक्ति) का विश्लेषण करता है, उसको किसी-न-किसी हद तक यांत्रिकता का सहारा लेना ही पड़ता है।'[45] जीवन को जानने का मतलब क्या है! जीवन के कई स्तर होते हैं। जीवन एक ही तरह का नहीं होता है। कहना न होगा कि एक विषम समाज में न सूरज सबके लिए एक साथ उगता है, न चाँद हर किसी के लिए प्यार का पैगाम लेकर आता है। नदियों में बह रहे पानी और खिले हुए फूलों के गीत एक ही तरह के आरोह-अवरोह पर नहीं गाये जाते हैं। जिस जीवन का साहित्य है, उस जीवन को जानना जरूरी है। जीवन को जानने के क्रम में ही 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' पर विचार करना जरूरी हो जाता है। हिंदी साहित्य में 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' पर विचार का द्वंद्व दलित लेखन के खास संदर्भ में उठकर तीखा बना है। इस संदर्भ में यहाँ इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त है कि 'स्वानुभूति' के विस्तार से विकसित 'सहानुभूति' के रचनात्मक विनियोग का अपना महत्त्व है। श्रेष्ठ साहित्य में इस विनियोग को चिह्नित किया जा सकता है। हमारे समय में प्रतिनिधितंत्र का काफी असर है। जन से अधिक महत्त्व जनप्रतिनिधि का है। कठिनाई तब सामने आती हे जब साहित्य 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' दोनों से वंचित होकर 'तदानुभूति' को ही पर्याप्त माने जाने पर बल देने लगता है। यदि जीवन का व्यापक परिप्रेक्ष्य रचना और आलोचना दोनों के लिए जरूरी है। जीवन को जानने का अर्थ सिर्फ ज्ञान से संबंधित नहीं है, बल्कि संवेदना से भी है। साहित्य में जिस तरह से जीवन को जानना होता है, उस तरह से जीवन को जानने के लिए आँख का खुली रहना तो आवश्यक है ही, कभी-कभी आँख का बंद होना भी जरूरी होता है। प्रकृति इस बात का पर्याप्त संकेत देती है। पलक थोड़े-थोड़े अंतराल पर खुद-ब-खुद झपक जाती है। कहाँ आँख का खुली रहना जरूरी है और कहाँ आँख का बंद रहना जरूरी है, इसे तय करने में ही जीवन-विवेक की जरूरत होती है। जीवन-विवेक न उभय-निष्क्रियता की बात करता है और न निष्पक्षता का। ऐसा इसलिए कि विषम समाज अपनी निर्मिति में ही पक्षपातपूर्ण होता है। पक्षपातपूर्ण वातावरण में,

निष्पक्षता चालू पक्षपातपूर्ण व्यवस्था के समक्ष आत्मसमर्पण है। इसलिए साहित्य को सदैव सकारात्मक पक्षपात के महत्त्व को समझना होता है। यह बहुत ही सूक्ष्म काम है, आलोचना जीवन-विवेक के साथ जुड़कर ही यह काम करती है। इस काम के लिए समाज में आलोचना की संस्कृति की प्रतिष्ठा अनिवार्य है।

आलोचना का उद्देश्य विचारों का विपणन नहीं है। आलोचना का काम जीवन को मनोरम और मानवीय बनाने के लिए प्रतिपथ की तलाश की असमाप्य प्रक्रिया को संस्कृति के केंद्र में सक्रिय रखना है। आलोचना की इस असमाप्य प्रक्रिया का एक संसार साहित्य में बसता है। साहित्य जीवन में बसता है। साहित्य की आलोचना जीवन की मृदु-कठोर भूमि से ही अपना प्राणरस पाती है। आलोचना के लिए पाठ की संदर्भच्युत बहुलता को वैध आधार मानना पर्याप्त नहीं हो सकता है। आज जीवन और आलोचना दोनों ही क्षयिष्णु होते जा रहे हैं। क्षयिष्णुता के सांस्कृतिक-पाठ की राजनतिक-प्रक्रिया को ध्यान से पढ़ना चाहिए। विचारों के विपणन से बहुत आहत है आलोचना का मन और आज का जीवन। जीवन में संग्रह और निग्रह, स्वीकार और अस्वीकार, यह और वह जैसे विकल्पों में से किसी कुछ के चयन की प्रक्रिया सतत जारी रहती है। सारे विकल्प वास्तविक भी नहीं होते हैं। अधिकतर विकल्प आभासी ही होते हैं। कहते हैं कि दुविधा में 'माया' और 'राम' दोनों से हाथ धोना पड़ता है। जहाँ तक विकल्पों की बात है, 'माया' और 'राम' में कोई अंतर नहीं होता है। 'राम' भी 'माया' का ही एक रूप है। जीवन में सारे विकल्प औषधि और विष विलगा लिये जाने की सहज संभावनाओं के ही साथ उपस्थित नहीं होते हैं। औषधि और विष के बीच बहुत सारे रसायन होते हैं। आदमी हमेशा एक प्रकार के चयन संकट में निरंतर फँसा रहता है। इस चयन संकट को दुविधा कहते हैं। चयन संकट में फँसे आदमी को उबरने का विश्वसनीय सहारा आलोचना देती है। संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ जीवन में आभासी और वास्तविक विकल्पों की बहुलता भी बढ़ती जाती है। विकल्पों की बहुलता से चयन संकट भी बढ़ता जाता है। चयन के गलत होने की आशंका भी बढ़ जाती है। इससे बचाव के लिए सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानसिक संरचना में आलोचना-बुद्धि और प्रवृत्ति की प्रखरता और दृढ़ता में सतत वृद्धि होते रहना जरूरी होता है। लेकिन ऐसा होता नहीं है। अंतर्दृष्टि आभासी विकल्पों की बहुलता से अक्सर चुँधिया जाती है। चुँधियाई हुई अंतर्दृष्टि अंतत: थक कर निश्चेष्ट होने लगती है। परिणाम यह होता है कि आलोचना-दृष्टि अंधता की चपेट में आ जाती है। आलोचनात्मक विवेक की धारोष्ण सक्रियता की सामजिकता को बनाये रखना सांस्कृतिक दायित्व है। यह दायित्व जीवन के प्रति गहरे और नि:शर्त अनुराग से ही निभ सकता है। पोथियाँ चाहे जितनी महान क्यों न हों, आलोचनात्मक-विवेक को सिर्फ पोथियों में व्यक्त विचारों के मंथन से हासिल नहीं किया जा सकता है। 'प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों

और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाय, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।'[46]

शास्त्र पूर्व-आधुनिक निर्मिति है। शास्त्र में 'स्वत:-प्रमाण' का आग्रह होता है। आलोचना अपना प्रमाण जीवन में ढूढ़ती है। शास्त्र में पुनर्विचार के लिए कोई जगह नहीं हेती है। आलोचना बार-बार विचार किए जाने के लिए प्रस्तुत रहती है। आलोचना का प्राण ही पुनर्विचार में बसता है। संदेह[47] और पुनर्विचार आधुनिकता के दो महत्त्वपूर्ण आधार हैं। इस अर्थ में आलोचना आधुनिक वृत्ति है। आलोचना पूर्व-आधुनिक निर्मिति और आधुनिक वृत्ति के संबंधों पर निरंतर विचार करती है। 'विचारशीलता आधुनिक संवेदना का अनिवार्य हिस्सा है और एक जरूरी यकीन भी है कि अगर अक्ल आदमी की दुश्मन नहीं तो अक्ल कविता की भी दुश्मन नहीं हो सकती है। इस (20वीं) सदी के प्रमुख विचारक और चिंतक मार्क्स, फ्रायड, आइन्सटाइन, सार्त्र आदि अमानव नहीं थे, न ही उनका लेखन और चिंतन कविदृष्टि-विहीन है। आज अधिकांश भयानक और अनचाहा हमारे जीवन में हो जाता है उसकी जड़ में बौद्धिकता नहीं मूर्खता होती है— मूर्खतापूर्ण और अपने तत्काल स्वार्थ से आगे न सोच पाने की बौद्धिक अक्षमताएँ। विचार-संपन्नता अकाव्यात्मक नहीं— उस कवित्व का आधार है जो हम उपनिषदों, गीता कबीर, गालिब आदि में पाते हैं।'[48] इधर उत्तर-आधुनिकता आधुनिक-वृत्ति को पलटते हुए पूर्व-आधुनिक निर्मिति और आधुनिक वृत्ति के संबंध के गुणसूत्रों को तोड़कर विचार और विचारधारा के अंत की घोषणा में संलग्न है तो उसके पीछे अनालोचन के दुराग्रहों की सक्रियता को सचेत होकर परखना चाहिए। कहना न होगा कि राजनीति इस समय का महावृत्तांत[49] है। इसलिए यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि हमारे समय में आलोचना की संस्कृति पर अपघात और अनालोचन के दुराग्रहों का संबंध ही निश्चित ही राजनीति से भी बनता है। ध्यान में रखना जरूरी है कि आधुनिकता, विचारशीलता और जनतंत्र के बीच अन्योनाश्रित ही अंतर्आवयविक संबंध है। इस समय आधुनिकता, विचारशीलता और जनतंत्र के बीच अन्योनाश्रित और अंतर्आवयविक संबंध पर गहरे आक्रमण हो रहे हैं। इस अक्रमण को समझने में आलोचना की गहरी भूमिका है और इस आक्रमण से बचाव के लिए आलोचना की संस्कृति की प्रतिष्ठा आवश्यक कर्त्तव्य है।

जो लोग साहित्य और राजनीति को एक दूसरे से दूर रखने के आग्रही हैं, उनके आग्रह के परोक्ष को प्रत्यक्ष करना आलोचना का दायित्व है। क्योंकि, 'राजनीति का गलत-सही गहरा प्रभाव कविता पर भी पड़ता रहा है। स्वतंत्रता के बाद से भारतीय जीवन और साहित्य में राजनीति का हस्तक्षेप तेजी से बढ़ा है: राजनीतिक चिंतन का नहीं चिंतन रहित राजनीति का— और यह एक खास माने में साहित्य के लिए चिंता का कारण है। यूरोपीय राजनीति

वहाँ के साहित्य के साथ जितनी गहराई से जुड़ी है उससे कहीं ज्यादा गहराई से वह वहाँ के गैर-साहित्यिक विचारकों से जुड़ी रही है। यूरोप में (अकेले वाम-पंथी चिंतन को ही सोचें तो) मार्क्स के बाद मार्क्सवाद के पक्ष-विपक्ष में सोचनेवाले सशक्त विचारकों की एक लंबी परंपरा है जिसका चिंतन और साहित्य के साथ संवाद साहित्य को अनेक स्तरों पर प्रभावित करता रहा है। लुकाच, गोल्डमान, फिशर आदि का पूरा चिंतन साहित्यक उदाहरणों से भरा पड़ा है। ऐसी कोई स्थिति भारतीय संदर्भ में नहीं बनती, यहाँ तक की आज गाँधीवादी या समाजवादी या मार्क्सवादी विचारधाराओं और उनकी राजनीति के बीच फर्क करना ही मुश्किल हो गया है। इसीलिए शायद पिछले वर्षों में अधिकांश हिंदी कविता भारतीय राजनीतिक यथार्थ को लेकर उग्र और व्यग्र ही ज्यादा रही, विचारशील कम।'[50] यह सच है कि राजनीतिक यथार्थ को लेकर उग्र और व्यग्र होने के बदले विचारशील होना अधिक जरूरी है। इस जरूरत को पूरा करने में आलोचना की भूमिका है।

जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ को 'जल में कुंभ और कुंभ में जल' के रूपक से समझा जा सकता है। 'बाहर और भीतर के पानी' के यथार्थ को समझने पर विचारधारा के 'बाहरी' और 'भीतरी' होने को ठीक से समझा जा सकता है। साहित्य और विचारधारा तो जीवन का अंतर्वर्त्ती प्रसंग है। इसलिए साहित्य और विचारधारा को जीवन से स्वायत्त मानने में आत्म-विभ्रम का तत्त्व है। 'हम छायावाद को बौद्धिक स्तर पर, और उसके तीन चार मूर्धन्य कवियों के ठोस कृतित्व के साक्ष्य पर किसी बाहरी विचारधारा से नहीं जोड़ सकते। उसमें अनेक तरह के विचारों का समुच्चय था पर वह किसी साहित्य के बाहर की विचारधारा से अनुप्राणित नहीं था या उसका साहित्यिक संस्करण नहीं था। वह साहित्य का अपना स्वायत्त आंदोलन था जिसमें बाहर के विचारों का भी योगदान था लेकिन जिसके अपने स्वायत्त अस्तित्व और पहचान को स्पष्ट ही देखा जा सकता है। यही बात प्रयोगवाद के को लेकर भी कही जा सकती है कि उसमें राजनीतिक दृष्टि से विरोधी विचार रखनेवाले भी साथ थे क्योंकि वह छायावादोत्तर कविता की भावुकता, सरलदिमागीपन और बुद्धिविरोध के विरुद्ध एक साहित्यिक प्रतिक्रिया थी। स्वयं 'नई कविता' नामक आंदोलन कभी एक तरह से विचार रखनेवालों का नहीं रहा, बल्कि उसमें भी अनेक विचारों और भावबोधों का समुच्चय था। प्रगतिशीलता और जनवाद के नाम से जो अत्यंत व्यापक आंदोलन इस समय हिंदी में है वह मौलिक रूप से साहित्य का आंदोलन नहीं रहा है: इसके बावजूद उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, इससे इन्कार नहीं है। निराला ने 1934 में कहा था: ''जो केवल दूसरों के विचारों का संग्रह करते हैं वे लेखक नहीं। वे तो साहित्यक मजदूर हैं। उनके परिश्रम का मूल्य अवश्य है, परंतु शाश्वत साहित्य के मंदिर में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता।'' कविता की स्वायत्तता का आग्रह उसे राजनीति या जनजीवन से विमुख करना नहीं बल्कि इस बात पर बल देना है कि कविता की सचाई से दूसरे किसी माध्यम में अनुवाद की

जा सकनेवाली सचाई नहीं है, कि कविता का सचाई से और इसलिए जीवन से उतना ही सीधा और अर्थसमृद्धिकारी संबंध है जितना कि राजनीति का, कि कविता के लिए समकक्षता की माँग शक्ति और सत्ता के राजनीति के पक्ष में झुके संतुलन को चुनौती देना है, कि कविता राजनीति की तरह पर्याप्त कर्म है और कि कविता भाषा में ऐसा कुछ करती है और उसके माध्यम से जीवन में, जो कि राजनीति या अन्य अनुशासन नहीं कर सकते।'[51]

'मौलिक रूप से साहित्य का आंदोलन' क्या मतलब! मौलिक तो जीवन है! ध्वनि यह कि जिसे नश्वर संसार के शाश्वत साहित्य के मंदिर में जगह सुरक्षित रखनी हो उन्हें दूसरों के विचारों से दूरी बनाकर रखनी चाहिए! निराला के कहे का क्या वही आशय है जिसे घ्वनित करने का भोलापन यहाँ दिखता है! वैसे भी शाश्वत के आग्रही देवपुरुषों के लिए तो पूरी दुनिया ही द्वितीया होती है। निराला का आशय तो सिर्फ इतना ही था कि विचार को अपने विवेक और काव्यचेतना की संगति के बिना ज्यौं-का-त्यौं काव्यारोपित करना गलत है। वे मजदूरों के महत्त्व को भी कम नहीं आँकते हैं, नहीं तो क्या वे इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती मजदूरनी को उस काव्य-दृष्टि से देख पाते! और प्रेमचंद क्या कहते हैं? यह जानना इसलिए भी अधिक दिलचस्प है कि उनका साहित्य महत्त्वपूर्ण भी है और उसमें विचार का भी पूरा निभाव है। वे अपने को साहित्य का मजदूर ही मानते थे। '"मैं मजदूर हूँ। जिस दिन न लिखूँ, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं है" – ये शब्द उनके होठों के सिर्फ आभूषण नहीं थे।'[52]

आलोचना के लिए राजनीति, विचारशीलता और भावना में संबंध और संतुलन बनाये रखना एक चुनौती है। इस संबंध और संतुलन के रचनात्मक विनियोग में यथार्थ और कल्पना के रमणीयात्मक प्रसंग के समावेश की जरूरतों के कारण यह चुनौती और गहरी हो जाती है। साहित्य में चेतन के साथ ही अवचेतन की बड़ी भूमिका होती है। कविता में अवचेतन की भूमिका साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में अधिक होती है। इसलिए, 'एक कविता में विचारों और भावनाओं की आपेक्षिक स्थितियाँ, उनके सही या गलत या कमजोर अर्थ-विन्यास पर गुणत्मक असर डालती हैं। अगर एक कवि के स्वभाव में यह आवश्यक संतुलन नहीं है कि वह कविता में विचारों के दबावों और आग्रहों को किस तरह उभारे और सुरक्षित रखे तो ज्यादा संभावना यही है कि वह उन्हें अपने उद्गारों या भावनाओं द्वारा ऊपर से चमका-दमका (ग्लेमराइज) करके रह जायेगा, हमें उनके भीतरी तर्क की शक्ति और अनुभूति तक नहीं पहुँचा पायेगा। जो कवि इस ओर पूरी तरह सचेत है कि विचारशीलता और भावनाएँ आदमी की दो भिन्न प्रकार की (विरोधी प्रकार की नहीं) क्षमताएँ हैं उसकी कविताओं में हम एक खास तरह का विचारों का उदात्तीकरण पायेंगे, मात्र उनका उद्दीपन नहीं।'[53] साहित्य का संबंध मनुष्य सत्ता की समग्रता से है और 'इस संपूर्ण मनुष्य-सत्ता का निर्माण करने का एक मात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक

साहित्य है।'[54] जाहिर है कि राजनीति और साहित्य को बहुत देर तक अलग-अलग रखना असंभव है। इस असंभव को संभव करना सिर्फ इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि साहित्यकार खुद क्या चाहता है। यह मानना ही पड़ेगा कि 'यह कहना बिल्कुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनीतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है – बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो छद्मजाल न हो।'[55] सच्ची वास्तविक अनुभूति और छद्मजाल में अंतर करना आलोचना का दायित्व है। इस अंतर करने में चूक से वैचारिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यहीं इस बात पर ध्यान दिये जाने की जरूरत है कि किसी खास राजनीतिक आग्रह के कारण कभी-कभी वैचारिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न करने के खास मकसद से भ्रष्ट-आलोचना जान-बूझकर यह चूक करती है। इस बात को याद किया जाना चाहिए कि 'वैचारिक अराजकता पूँजीवाद के उसी प्रकार हित में है जिस प्रकार घोर अध्यात्मवाद। इन दोनों सिरों को वह बहुत आराम से उदारता के नाम पर अपने में समा लेता है।'[56] उत्तर-आधुनिक आग्रहों को गौर से देखने पर इस वैचारिक अराजकता की स्थिति अधिक स्पष्टता से समझ में आ सकती है। आज के वैचारिक अराजकता से 'उदारीकरण' के संबंध में इस उदारता असर देखा जा सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था की उदारता के गर्भ में पलनेवाले वैचारिक अराजकता को मुक्तिबोध ने ठीक पहचाना था। इस पहचान का भरपूर असर मुक्तिबोध के आलोचना-कार्य में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध के आलोचना-कार्य में ही नहीं बल्कि कमोबेश प्रगतिशील और सभी जनमुखी आलोचकों के आलोचना-कार्य में इस पहचान को अंत:सलिला के रूप में व्याप्त देखा जा सकता है।

विभाजित समाज में अखंड मानवतावाद : आलाप और अंतर्विरोध

विभाजित समाज में संपूर्ण मनुष्य-सत्ता पर ध्यान एकाग्र रखना कितना मुश्किल होता है, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। विभाजित समाज चाहे जिस किसी व्यवस्था में हो वह मुक्त नहीं होता है। विषमता समाज को विभाजित कर दुख-ग्रस्त करती है और समता समाज को एक कर दुख-मुक्त करती है। विषमता और समता के बीच का संघर्ष सभ्यता का मुख्य संघर्ष है। यह सच है कि, 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।'[57] लेकिन सच तो यह भी है कि विभाजित समाज को न तो 'ज्ञानदशा' ही हासिल होती है और न ही 'रसदशा'। क्योंकि दुख-ग्रस्त समाज में न आत्मा अपनी मुक्तावस्था को हासिल

कर पाती है और न हृदय की मुक्तावस्था का कोई सुयोग बनता है। कहना न होगा कि 'हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है' उस शब्दविधान को हृदय और आत्मा की मुक्ति की वैयक्तिक साधना से आगे बढ़कर दुख-मुक्ति के लिए विषमता के साथ सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया में ढल जाना पड़ता है। यह संभव ही नहीं है कि समाज तो विभाजित रहे और मानवतावाद अखंडित रहे। विभाजित समाज का अखंड मानवतावाद विभ्रम रचता है। इस विभ्रम को तोड़ने के लिए साधना से संघर्ष तक की यात्रा के साथ ही व्यक्ति से समाज की समांतर यात्रा भी रहती है। इस समांतर यात्रा का पथ बहुत आसान नहीं होता है। आलोचना इस कठिन पथ के पाथेय का जुगाड़ करती है।

साहित्य के केंद्र में मनुष्य के होने की बात पर आम-सहमति है। कठिनाई तब उपस्थित होती है जब इस मनुष्य की पहचान की बारी आती है। समाज में विषमता का मूल कारण भेद-भाव है। भेद-भाव के रहते एकता संभव नहीं होती है। एकता के लिए समता अनिवार्य शर्त्त है। विभाजित समाज में, एकता की बात बेमानी होती है। विभाजित समाज में छद्म आधार पर हासिल एकता भी छद्म और भंगुर होती है। सबसे खतरनाक बात यह होती है कि यह छद्म एकता शोषण को बढ़ावा देने में व्यवहृत होती है। साहित्य के केंद्र में जो मनुष्य होता है वह निश्चित रूप से मनुष्य के एक होने की बात पर बल देनेवाला होता है। कुछ लोग ईश्वर के एक होने की बात पर तो बहुत बल देते हैं लेकिन मनुष्य के एक होने की शर्त्त, अर्थात मनुष्य की समानता की बात, पर कन्नी काटने लगते हैं। 'मेरी धारणा है कि साहित्य के केंद्र में मानव है, व्यक्ति है परंतु वह व्यक्ति अलग-थलग नहीं है– अपने में संपूर्ण इकाई नहीं है।' संपूर्ण इकाई अखंड मनुष्यता की निहित एकता है। साहित्य इस 'अखंड मनुष्यता की निहित एकता' के लिए संघर्ष करता है। आलोचना इस संघर्ष की राह में बने अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने के लिए सतत सक्रिय रहती है।

लेकिन साहित्य भी कोई एक-स्तरीय नहीं होता है और न ही अपने समय के सवाल और राजनीति से ही अलग होता है। जाहिर है, विभाजित समाज का मानवतावाद भी खंडित ही होता है। जो साहित्य सामाजिक विभाजन को दूर करने के संघर्ष में समुचित सांस्कृतिक योगदान के लिए सचेष्ट हुए बिना अखंड मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए संघर्षशील होने की बात करता है, उस पर विश्वास करने के पहले अपने को धोखा खाने के लिए तैयार कर लेना चाहिए। 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं, वास्तविक दुनिया में रहते हैं। इस जगत में रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।'[59] इस वास्तविक दुनिया में रहना बहुत ही कठिन होता जा रहा है। 'संवेदनशील मनुष्य को जीने के लिए, दो बातें विशेष रूप से आवश्यक हैं। एक तो यह कि सांसारिक क्षेत्र में उसकी सर्वांगीण

सामंजस्यपूर्ण उन्नति होती चली जाये; दूसरे, उसके सम्मुख कोई ऐसा आदर्श हो जिसके लिए वह जी सके या मर सके।'[60] आज संवेदनशील मनुष्य के सामने सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति के लिए न कोई समुचित अवसर है और न उसके सम्मुख ऐसा कोई आदर्श बचा है जिसके लिए वह जी या मर सके। अब इस बात पर गौर किया जाना चाहिए कि सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति के अवसर के निर्माण का दायित्व मुख्य रूप से राजनीति पर होता है और आदर्श को सामजिक मन में बनाये रखने में साहित्य की भूमिका प्रमुख होती है। आदर्श के सृजन और विसृजन की राजनीति को समझना होगा। इस समझ को बनाने में साहित्य की और टिकाये रखने में आलोचना की गहरी भूमिका होती है।

कालिदास का लालित्य किसे नहीं मोह लेता है! सच है कि कालिदास के समय में पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ था, लेकिन निस्संदेह उस समय की व्यवस्था समतावादी नहीं थी। बौद्ध-दर्शन समता के संदेश के साथ उपस्थित हुआ था। बौद्ध-दर्शन और वैदिक-दर्शन में टकराव था। सभ्यता के अंतरंग में यह टकराव आज भी जारी है। कालिदास के लालित्य के मोह से मुक्त होने पर यह बात समझ में आ सकती है कि 'कालिदास एक बौद्ध विरोधी साहित्यकार थे। इसलिए पुष्पमित्र की तारीफ में कालिदस के रघुवंश और संस्कृत के उस जमाने के तमाम साहित्यकारों के साहित्य में यह चीज भरी पड़ी है। कालिदास से लेकर भवभूति, भास, क्षेमेंद्र, भारवि आदि तमाम संस्कृत के कवियों ने मिथकों के आधार पर नाटक लिखना शुरू किया। खासकर महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर नाटकों में वैदिक दर्शन की महिमा का मंडन किया गया। इस तरह बिना बौद्ध दर्शन का नाम लिए उसका विरोध किया गया। जिस कालिदास की इतनी तारीफ की जाती है उसने अश्वमेध के बहाने एक हिंसक दर्शन को बढ़ावा दिया।'[61] आलोचना इस तरह से रचना को उसके परिप्रेक्ष्य में हासिल कर सामाजिक संवेदना के संदर्भ में बार-बार अन्वेषित करती है। विचारधारा के सवाल और आलोचना के ख्याल का संबंध अपने समय में मनुष्य-सत्ता की समग्रता से होता है। आलोचना इस संपूर्ण मनुष्य-सत्ता पर अपना ध्यान एकाग्र रखती है। इस बात को समझनेवाले साहित्यकार ही यह महसूस कर सकते हैं कि 'जो जाति, जो राष्ट्र जितना ही स्वाधीन है, यानी जहाँ की जनता शोषण और अज्ञान से जितने अंशों तक मुक्ति प्राप्त कर चुकी होती है, उतने ही अंशों तक वह शक्ति और सौंदर्य तथा मानवादर्श के समीप पहुँचती हुई होती है। आज की दुनिया में जिस हद तक शोषण बढ़ा हुआ है, जिस हद तक भूख और प्यास बढ़ी हुई है, उसी हद तक मुक्ति-संघर्ष भी बढ़ा हुआ है, और उसी हद तक बुद्धि तथा हृदय की भूख-प्यास भी बढ़ी हुई है। आज के युग में साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख-प्यास का चित्रण करे, और उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सके।'[62] प्रदूषण और शोषण आज के समय में संघर्ष के दो महत्त्वपूर्ण

संदर्भ हैं। आलोचना जीवन के संदर्भ से प्राकृतिक पर्यावरण में व्याप्त प्रदूषण और सामजिक पर्यावरण में व्याप्त शोषण के खिलाफ संघर्ष खड़ी करती है।

दुनिया के सभी महान साहित्यकारों और विचारकों में ढूढ़ने पर कई स्तर पर अंतर्विरोध मिल जायेंगे। ऐसे अंतर्विरोध विचारकों ओर साहित्यकारों में ही नहीं होता महान पात्रों में भी होता है; वह पात्र राम और कृष्ण जैसे पौराणिक पात्र भी हो सकते हैं और होरी[63] या डॉ प्रो. तत्सत पांडेय[64] जैसे साहित्यिक पात्र में भी हो सकते हैं। सवाल उठता है कि आलोचना को उन अंतर्विरोधों के साथ कैसा सलूक करना चाहिए। एक तरीका यह हो सकता है कि आलोचना उन अंतर्विरोधों को सामने लाकर उन महान साहित्यकारों और विचारकों की महानता को खंडित कर दे। आलोचना का प्राणधार आधुनिकता है। आधुनिक दृष्टि का तकाजा है कि जीवन को उसके अंतर्विरोधों के बीच से देखा जाये। आलोचना इन अंतर्विरोधों को साधते हुए विरुद्धों के बीच सामंजस्य हासिल करने उनसे बाहर निकलने का रास्ता खोजती है। आलोचना को किसी भी तरीके का इस्तेमाल करते हुए इतनी-सी बात याद जरूर रखनी होगी कि महानता को स्थापित करने में आलोचना की भूमिका चाहे जैसी और जितनी होती हो, लेकिन महानताओं का निवास जनता के चित्त में होता है। जनता के चित्त से महानता को एक झटके में उतार फेंकना आसान तो नहीं होता है, कई बार गैर-जरूरी और आत्मघातक भी होता है।

महान लोगों के विचारों में एक तरह का स्वाभाविक अंतर्विरोध हुआ करता है। यह अंतर्विरोध उनके व्यक्तित्व का तो होता ही है उनके समय का भी होता है। दरअसल, अंतर्विरोध इतिहास की धुरी में छिपा होता है। जिनमें सिर्फ अपने व्यक्तित्व का अंतर्विरोध होता है उनकी बात और है लेकिन जिनके अंदर समय का अंतर्विरोध होता है, वे इतिहास का हिस्सा बन जाते हैं। बार-बार उन अंतर्विरोधों के संदर्भ आते हैं। आलोचना बार-बार उनको याद करती है। आलोचना के साथ कभी-कभी दिक्कत यह होती है कि वह अंतर्विरोधों के किसी एक ही हिस्से को थामकर सच को अपनी मुट्ठियों में भिंच लेने की गलतफहमी में फँस जाती है। 'यदि आप जीवन को उसके अंतर्विरोधों के परिप्रेक्ष्य में देख रहे हैं तो आपकी कहानी में आधुनिकता आएगी ही, यह अनिवार्य है, क्योंकि जीवन के भीतर पाया जानेवाला अंतर्विरोध वास्तव में जीवन को बदलनेवाली शक्तियों और जीवन को यथावत बनाए रखनेवाली शक्तियों के बीच ही विकट संघर्ष का रूप लेता है, और इस तरह युगबोध के स्वर अपनेआप ही उसमें से फूट-फूट पड़ते हैं, पर यदि आप आधुनिकता को भाषा, शैली, शिल्प के प्रयोगों के या फिर मात्र सैक्स के उन्मुक्त प्रदर्शन से जोड़ते हैं, और इन तत्त्वों को कहानी में इसलिए लाने की कोशिश करते हैं कि वह आधुनिक भावबोध की कहानी कहला सके, तो मैं समझता हूँ, यह अपने को धोखा देने वाली बात है।'[65] इस समय आलोचना का महत्त्व इस बात में है कि आज विरुद्धों में सामंजस्य स्थापना की तुलना में व्यवस्था की दिलचस्पी अविरुद्धों के बीच असामंजस्य स्थापित करने में अधिक है। स्थापित सत्ताओं में इस तरह की

दिलचस्पी सदैव रही है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के इस दौर में सामान्य जीवन पर तकनीक के बढ़े हुए वर्चस्व के कारण स्थापित सत्ताओं की यह प्रवृत्ति अधिक खतरनाक हो गई हैं। आलोचना इस खतरे का सामना करने के साहस का नाम है।

आलोचना का अंतत:

साहित्य का मूलाधार भाव में है या विचार में? यह साहित्य कल्पना के आँचल तले अधिक विकसित होता है या यथार्थ की अँगुली पकड़कर सही दिशा में आगे बढ़ता है? ज्ञान उसके काम का है कि संवेदना? मुक्तिबोध ज्ञानात्मक-संवेदना और संवेदनात्मक-ज्ञान की बात करते थे। मुक्तिबोध विचारधारा के साथ-साथ भावधारा का भी प्रयोग करते थे। साहित्य इस तरह के प्रश्नों से जूझता रहा है। हर युग में इस तरह के सवाल अपना रूप बदलकर बार-बार उठते हैं और समय से अपना जवाब माँगते हैं। ठीक से विचार करने पर यह बात साफ होती है कि इस तरह के सवाल 'अनन्य' को 'अन्यान्य' की तरह पेश करते हैं।

साहित्य को भाव भी चाहिए और विचार भी चाहिए, ज्ञान भी चाहिए और संवेदना भी चाहिए, कल्पना भी चाहिए और यथार्थ भी चाहिए। जीवन के लिए जो भी जरूरी है उन सब का सत्व साहित्य को चाहिए होता है। इस सत्व से ही जनता की चित्तवृत्ति अपना रूपाकार और अपना प्राणत्व पाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की बात याद करें तो, 'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति में पविर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'[66]

जनता की चित्तवृति का पंछी उतरता तो है रस-साहित्य के आँगन में लेकिन उसे पहचानता है ज्ञान-साहित्य, अर्थात आलोचना। आलोचना स्थापितों के सामने प्रश्न करती है। आलोचना प्रश्न करने का साहस पैदा करती है। आलोचना किसी को भी अनालोच्य नहीं मानती। जाहिर है कि आलोचना खुद भी आलोचना की जद से बाहर नहीं हो सकती। आलोचना अपने को स्वत:-प्रमाण नहीं मानती है। लेकिन अपने समक्ष प्रश्न खड़े किये जाने पर आलोचना भी किसी से कम परेशान नहीं होती है! आलोचना को प्रमाण मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता है!

आलोचना से किसे शिकायत नहीं है? हर किसी को है! आलोचना को भी आलोचना से शिकायत है! शिकायत चाहे जितनी हो, अपने खास अर्थ में, आलोचना की संवेदना अंततः

साहित्य और जीवन के बीच जारी निरंतर की आवाजाही से निर्मित और नियंत्रित होती है। साहित्य और जीवन के बीच निरंतर जारी आवाजाही को सहज, सार्थक और सुग्राह्य बनाना तथा इस आवाजाही में बननेवाले अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने की कोशिश करना आलोचना का दायित्व है; वह अंध-बिंदु खुद आलोचना का भी हो सकता है।

संदर्भः

1.दीवान-ए-ग़ालिब: राजकमल पेपर बैक्स - सातवीं आवृत्ति 2004 : अली सरदार जाफ़री

2.दीवान-ए-ग़ालिब: राजकमल पेपर बैक्स - सातवीं आवृत्ति 2004 : अली सरदार जाफ़री

3.Vicious Circle के अर्थ में

4.कबीर: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: कबीर-वाणी : राजकमल प्रकाशन 1980

5.जिस प्रकार लकड़ी पर घुन की बनाई आकृति कभी-कभी अक्षर की तरह बन जाती है।

6.गीता: प्रथम अध्याय ।। 24 ।। गीता प्रेस, गोरखपुर : 'एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत। सेनयोरु भयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम।।'

7. फ़ैज अहमद फ़ैज: प्रतिनिधि कविताएँ: राजकमल पेपर बैक्स-2003: निसार तेरी गलियों के

8.रैन-दिन का अर्थ सुख-दुख लेना चाहिए।

9.आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: कबीर: कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन

10.आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: कबीर: कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन

11.एकांत श्रीवास्तव: जो कुरुक्षेत्र पार करते हैं: बीज से फूल तक: राजकमल प्रकाशन 2003

12.अरुणकमल: नये इलाके में : नये इलाके में

13.अरुणकमल: यह वो समय: नये इलाके में

14.प्रफुल्ल कोलख्यान: बकलम खुद कुमारिल, खुद प्रभाकर - हिंदी के नामवर : वसुधा 54 : अप्रैल-जून 2002

15.देवीशंकर अवस्थी: आलोचना और आलोचना: वाणी प्रकाशन 1995

16.एकांत श्रीवास्तव: जो कुरुक्षेत्र पार करते हैं: बीज से फूल तक : राजकमल प्रकाशन

17.Public Sphere में सक्रिय Public Mind के अर्थ में।

18.मंगलेश डबराल: हम जो देखते हैं: पिता की तस्वीर

19.पंजाबी के कवि अवतार सिंह पाश की कविता का संदर्भ लें।

20.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है?

21.कुमार अंबुज: अतिक्रमण: 2002 : अतिक्रमण

22.नागार्जुन रचनावली-1: राजकमल प्रकाशन, 2003: यह कैसे होगा?:सतरंगे पंखोंवाली: 1956

23.नागार्जुन रचनावली- 6 : दिमागी गुलामी: कौमी बोली, जनवरी 1944
24.नामवर सिंह: साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका 1979 : वाद विवाद संवाद
25.गजानन माधव मुक्तिबोध: मुक्तिबोध रचनावली -4: राजकमल प्रकाशन, संस्करण-1,1989
26.प्रेमचंद: विविध प्रसंग-2 : राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता : संकलन अमृत राय : हंस प्रकाशन
27.मानव विकास रिपोर्ट - 2002
28.मानव विकास रिपोर्ट: 1996
29.प्रो. अमर्त्य सेन: आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य, राज प्रकाशन 2001
30.फ़ैज़ अहमद फ़ैज़: सारे सुख़न हमारे: राजकमल प्रकाशन- दिसंबर, 1987 : नक़्शे-फ़रियादी
31.रघुवीर सहाय: लोग भूल गये हैं: निवेदन (14 जनवरी 1982): राजकमल प्रकाशन, 1982
32.भीष्म साहनी: दो शब्द: मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983
33.केदारनाथ अग्रवाल: अनहारी हरियाली: परिमल प्रकाशन - प्रसं. 1990
34.नागार्जुन रचनावली- 6: प्रेमचंद: एक व्यक्तित्व: हिंदी टाइम्स, 6 अक्तूबर 1962
35.कुछ पूर्वग्रह: आलोचना की जरूरत
36.भीष्म साहनी: मेरी कथा के निष्कर्ष: दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
37.भीष्म साहनी: मेरी कथा के निष्कर्ष: दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
38.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है
39.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि- पहला भाग: कविता क्या है
40.नामवर सिंह : कथादेश -
जून 2002: देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान समारोह में दिये गये वक्तव्य से
41.गजानन माधव मुक्तिबोध :
42.भीष्म साहनी : मेरी कथा के निष्कर्ष: दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
43. 'Inter-Woven' के अर्थ में
44. 'Inter-Locked' के अर्थ में
45.गजानन माधव मुक्तिबोध: मुक्तिबोध रचनावली -5
46.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है
47.रेने देकार्त्त का विशिष्ट संदर्भ लिया जा सकता है।
48.कुँवर नारयाण: अमानवीयकरण के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया: कविता का जनपद -
सं. अशोक वाजपेयी
49.'Mega Context' के खास अर्थ में

50.कुँवर नारयाण: अमानवीयकरण के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया :कविता का जनपद -
सं. अशोक वाजपेयी: 51.अशोक वाजपेयी: कविता का देश: कविता का जनपद - सं. अशोक वाजपेयी
52.नागार्जुन रचनावली - 6 : प्रेमचंद : एक व्यक्तित्व: हिंदी टाइम्स, 6 अक्तूबर 1962
53.कुँवर नारयाण: अमानवीयकरण के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया: कविता का जनपद -
सं. अशोक वाजपेयी
54.गजानन माधव मुक्तिबोध: जनता का साहित्य किसे कहते हैं : मुक्तिबोध रचनावली 5
55.गजानन माधव मुक्तिबोध: कलात्मक अनुभव: मुक्तिबोध रचनावली भग 5
56.गजानन माधव मुक्तिबोध: समन्वय के लिए संघर्ष चाहिए: मुक्तिबोध रचनावली
57.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है
58.भीष्म साहनी: मेरी कथा के निष्कर्ष: दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
59.गजानन माधव मुक्तिबोध: एक मित्र की पत्नी का प्रश्न चिह्न: मुक्तिबोध रचनावली-4:
60.गजानन माधव मुक्तिबोध : समाज और साहित्य : मुक्तिबोध रचनावली-5
61.अंधविश्वास धर्म का मुख्य तत्त्व है : प्रोफेसर तुलसी राम : समयांतर, मार्च 2003
62.गजानन माधव मुक्तिबोध: जनता का साहित्य किसे कहते हैं: मुक्तिबोध रचनावली-5
63.प्रेमचंद के विख्यात उपन्यास ‘गोदान’ का एक प्रमुख पात्र
64.दूधनाथ सिंह के उपन्यास ‘आख़िरी कलाम’ (राजकमल प्रकाशन 2003) का एक प्रमुख पात्र
65.भीष्म साहनी: दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ: राजपाल एंड सन्ज़: 1983
66.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: हिंदी साहित्य का इतिहास